टीकाकार के उद्गार

श्रीमदकलंकस्वामी के परमप्रसाद से आज मुझे श्रीप्रज्ञा-पुस्तकमाला के प्रकृत षष्ठ (६) पुष्प के सम्पादन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है, किन्तु आधुनिक जैन विद्वानों की बहुलता और विद्वत्ता पर दृष्टिपात करते हुए इसके सम्पादन के हेतु यद्यपि मैं अपने को सर्वथा अयोग्य और असमर्थ समझता हूं, पर उनकी चुपकी को देख,मुझे मैदान में आते जरा भी सकोच नहीं होता, प्रत्युत बहुत आनन्द होता है और आशा है, कि यह कृति भी अन्य कृतियों की भांति पाठकों को आनन्दप्रद होगी ।

मुझे विश्वास है, कि जैन समाज में अभी अनेकों ऐसे विद्वान् हैं जो टीका की तो बात ही क्या, किन्तु विशाल ग्रन्थों तक का निर्माण कर सकते हैं,पर उनकी कर्त्तव्यशून्यता और चुपकी को देखकर मुझे हार्दिक रञ्ज है और उसीके दूर करने के हेतु हमारा यह प्रयास है ।

इसकी २-३ प्रकार की टीकाएँ अन्य विद्वानों द्वारा भी हो चुकी हैं, किन्तु उनमें से किसी में अगर भावार्थ है तो अन्वयार्थ नहीं और अन्वयार्थ है तो भावार्थ नहीं । बस, इसी कमी की पूर्ति के हेतु यह टीका अन्वय अर्थ और भावार्थ सहित लिखी गई है ।

यह टीका जिस नवीन ढंग पर लिखी गई है उसे देख अनेकों जन आश्चर्यान्वित होंगे, क्योंकि ऐसे ढग की टीका देखने का उन्हें यह प्रथम अवसर ही हाथ आया है । इसमें वृद्धशैली या भावार्थीय अर्थ का समावेश न कर भरसक विभक्ति के अनुसार ही अर्थ कर बालकों को ठोस और स्थायी ज्ञान कराने का विचार रखा गया है, किन्तु जहां अनेक उपाय करने पर भी अनुकूल मार्ग प्राप्त नहीं हुआ वहां पर विभक्त्यर्थ में परिवर्तन भी करना पड़ा है । आवश्यकता पड़ने और वास्त-

विक शब्दार्थ को प्रकट करने के हेतु इसमें कई जगह अनेक ऊपरी पदों का अभिनिवेश भी किया गया है।

इसके द्वारा स्वाध्यायी, श्रीमान् और अंग्रेजी पढने वाले भी जैन काव्य में प्रवेश करेंगे और छोटी पाठशालाओं के अध्यापकों के तो यह बड़े काम की चीज होगी। तथा विद्वानो के भी 'आक्रीडे' और 'अपकुर्वति' इत्यादि संदिग्ध एव अनेकार्थ वाचक स्थलों में परम सहायक होगी।

यह टीका एक ऐसे साधन हीन ग्राम में बनाई गई है, जहां कि द्वितीय विद्वान् और अन्य सहायक सामग्री का सर्वथा अभाव ही है। अतएव इसमें अनेक त्रुटियों के रहने की सभावना है जिनको देखकर कतिपय सज्जन इसकी हँसी करेंगे, किन्तु उनसे विनम्र निवेदन है, कि वे इसकी त्रुटियों को मुझे दिखाकर अपनी विद्वत्ता का परिचय देने की कृपा करें जिससे द्वितीय आवृत्ति में उनका सुधार किया जासके।

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः॥

धन्यवाद और आभार—

श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम चौरासी (मथुरा) के प्रधानाध्यापक सोरई (झांसी) निवासी श्रीमान् प० बालचन्द्र जी जैन शास्त्री ने अपना बहुमूल्य समय प्रदान करते हुये इस पुस्तक का सशोधन कर हमें सहायता प्रदान की है, एतदर्थ हम उनके महान् आभारी हैं। तथा चि० केशरीमल गङ्गवाल कोछोर (जयपुर) को भी हम विस्मृत नहीं कर सकते जिन्होंने प्रेस कापी कर हमें सहायता पहुँचाई है।

जैनकाव्यसेवक—

मोहनलाल जैन, काव्यतीर्थ

* श्रीवर्धमानाय नमः *

श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचित

भावार्थदीपिका टीकासहित

* क्षत्रचूडामणिः ।

प्रथमलम्बः ।

श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद्, भक्तानां वः समीहितम् ।
यद्भक्तिः शुल्कतामेति, मुक्तिकन्याकरग्रहे ॥

अन्वयार्थौ—यद्भक्ति = जिस भगवान की भक्ति, मुक्ति-कन्याकरग्रहे = मुक्तिरूपी कन्या के साथ विवाह करने के विषय में, शुल्कताम् = मूल्यपने को, एति = प्राप्त होती है, सः = वह, श्रीपतिः = अंतरंग और बहिरंग लक्ष्मी का स्वामी, भगवान् = परमेष्ठी जिनेन्द्र, वः = तुम सब, भक्तानाम् = भक्तों के, समीहितम् = मनोरथ को, पुष्यात् = पूर्ण करे ॥ १ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार किसी कन्या के साथ विवाह करने में रुपया पैसा सहायक होता है, विना रुपया के विवाह नहीं हो सकता है। उसी प्रकार जिन भगवान की भक्ति मुक्ति (मोक्ष) रूपी कन्या को प्राप्त

करने तक में सहायक होती है, वे अनन्त चतुष्टय स्वरूप अन्तरंग और समवसरणादि स्वरूप बहिरंग लक्ष्मी के अधिपति जिनेन्द्रदेव तुम सब भक्तों की इच्छा को पूर्ण करें। निष्कर्षार्थ:—मोक्ष का पाना सबसे अधिक कठिन है। जब वह भी भगवद्भक्ति से प्राप्त हो जाता है, तब मनुष्य के मनोरथ का पूर्ण होना तो सहज बात है ॥ १ ॥

संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि, चरितं जीवकोद्भवम्।
पीयूष न हि निःशेषं, पिबन्नेव सुखायते ॥ २ ॥

अन्वयार्थौ—(अहं)= मैं ग्रन्थ कर्त्ता, जीवकोद्भवम् = जीवन्धर स्वामी से उत्पन्न, चरित = जीवनचरित्र को, सक्षेपेण = सक्षेप से, प्रवक्ष्यामि = कहता हूँ। नीति —हि = क्योंकि, जन = मनुष्य, निःशेषं = समस्त, पीयूषं = अमृत को, पिबन् = पीता हुआ, एव = ही, सुखायते = सुखी होता है, इति = ऐसा, न = नहीं, किन्तु, स्वल्पं = थोड़े, पीयूष = अमृत को, पिबन् = पीता हुआ मनुष्य, अपि = भी, सुखायते = सुखी होजाता है ॥२॥

भावार्थ:—ग्रन्थ कर्ता वादीभसिंह सूरि कहते हैं, कि जिस प्रकार सम्पूर्ण अमृत को पीने से ही मनुष्य को सुख होगा यह बात ही नहीं, किन्तु थोडे से अमृत को पीने से भी मनुष्य को सुख हो जाता है। उसी प्रकार इस जीवन चरित्र को विस्तार पूर्वक लिखने में ही पाठकों के आनन्द होगा, यह बात ही नहीं, किन्तु सक्षेप से लिखने से ही मनुष्यों को आनंद हो सकेगा। इसलिये मैं भी जीवन्धर स्वामी के चरित्र को संक्षेप से कहता हूँ ॥ २ ॥

श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य, सुधर्मो–गणनायकः।
यथोवाच मयाप्येत,–दुच्यते मोक्षलिप्सया ॥३॥

अन्वयार्थौ—सुधर्मः=सुधर्माचार्य नामक, गणनायकः= गणधर, श्रेणिकप्रश्नम्=श्रेणिक राजा के प्रश्न को, उद्दिश्य= लक्ष्य कर, एतत्=इस जीवन्धर चरित्र को, यथा=जिस प्रकार, उवाच=कहते हुये, मया=मुझ ग्रन्थकर्त्ता के द्वारा, अपि=भी, एतत्=यह चरित्र, मोक्षलिप्सया=मोक्ष प्राप्ति की चाह से, (तथा)=उसी प्रकार, उच्यते=कहा जाता है ॥३॥

भावार्थ—श्री वादीभसिंह सूरि कहते हैं कि पूर्व काल में श्रेणिक राजा के द्वारा पूछे जाने पर सुधर्माचार्य ने जीवन्धर स्वामी के चरित्र का जिस प्रकार वर्णन किया था। मैं भी उनके चरित्र को धनादिक की चाह बिना ही मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से ठीक उसी प्रकार कहूँगा हीनाधिक या कल्पित नहीं ॥ ३ ॥

इहास्ति भारते खण्डे, जम्बूद्वीपस्य मण्डने।
मण्डलं हेमकोशाभं, हेमाङ्गदसमाह्वयम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौ—इह=इस लोक में, जम्बूद्वीपस्य=जम्बू द्वीप के, मण्डने=भूषण स्वरूप, भारते=भरतक्षेत्र सम्बन्धी, खण्डे=आर्यखण्ड में, हेमकोशाभं=सुवर्ण के खजाने की कान्ति के समान है कान्ति जिसकी ऐसा, हेमाङ्गदसमाह्वयम्=हेमाँगद- नामक, मण्डलम्=देश, अस्ति=है ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस लोक में जम्बद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में एक हेमाँगद नाम का देश है। जिसकी चमकदमक सुवर्ण के खजाने की चमकदमक के समान है ॥ ४ ॥

तत्र राजपुरी नाम, राजधानी विराजते ।
राजराजपुरीसृष्टौ, स्रष्टु र्या मातृकायते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौ—तत्र = उस देश में, राजपुरी नाम = राजपुरी नामक, राजधानी = राजा के निवास की प्रधान नगरी, विराजते = सुशोभित है। या = जो राजपुरी नगरी, स्रष्टुः = ब्रह्मा के, राजराजपुरीसृष्टौ = कुबेर की अलकपुरी के बनाने के विषय में, मातृकायते = माता के समान आचरण करती है ॥५॥

भावार्थः—उस हेमागद देश में एक राजपुरी नामक राजधानी है। जिसकी सुन्दरता को देखकर यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने उसे देखकर ही अलकापुरी बनाई हो ॥ ५ ॥

तस्या सत्यंधरो नाम, राजा भूत्सत्यवाङ्मयः ।
वृद्धेसवी विशेषज्ञो, नित्योद्योगी निराग्रहः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थौ—तस्याम् = उस राजपुरी नगरी में, सत्यवाङ्मयः = सत्य वचन बोलने वाला, वृद्धसेवी = बड़ो की सेवा करने वाला, विशेषज्ञः = गूढ़ कार्यों का जानने वाला, नित्योद्योगी = सदा पुरुषार्थ करने वाला, (च) = और निराग्रहः = हठ रहित, सत्यंधरःनाम = सत्यंधर नामक, राजा = राजा, अभूत् = था ॥६

महिता महिषी तस्य, विश्रुता विजयाख्यया ।
विजयाद्विश्वनारीणां, पातिव्रत्यादिभिर्गुणैः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ—तस्य = उस सत्यधर राजा के, पातिव्रत्यादिभि: = पातिव्रत्य आदिक, गुणै = गुणों से, विश्वनारीणां = सम्पूर्ण स्त्रियों के, विजयात् = जीतने से, विजयाख्यया = विजया नाम से, विश्रुता = प्रसिद्ध, (च) = और, महिता = सुयोग्य, महिषी = पटरानी, आसीत् = थी ॥ ७ ॥

भावार्थ—उस सत्यंधर राजा के प्रसिद्ध और सुयोग्य विजया नाम की पटरानी थी। जिसने पातिव्रत्य और उदारता आदिक गुणों से संसार की सब स्त्रियों को जीतकर ही मानो विजया नाम पाया था ॥ ७ ॥

सत्यप्यन्तः—पुरस्त्रीणां, समाजे राज—वल्लभा।
सैवासीन्नापरा काचित्, सौभाग्यं हि सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥

अन्वयार्थौ—अन्तःपुरस्त्रीणाम् = जनानखाने की स्त्रियों के, समाजे = समूह के, सति = होने पर, अपि = भी, राजवल्लभा = राजा के प्यारी, सा = वह विजया, एव = ही, आसीत् = थी, अपरा = और दूसरी, काचित = कोई, राजवल्लभा, न = नहीं, आसीत्। नीतिः—हि = क्योंकि, सौभाग्यं = अच्छे भाग्य का प्राप्त होना, सुदुर्लभम् = अति कठिन, (भवति) होता = है ॥ ८ ॥

भावार्थ—उस सत्यंधर राजा के जनानखाने में यद्यपि बहुत सी स्त्रिया थीं, किन्तु राजा को वह विजया ही अतिशय प्यारी थी, दूसरी कोई नहीं। क्योंकि यह नीति ही है कि सौभाग्य सभी को सहज प्राप्त नहीं होता है। तदनुसार उस विजया का ही यह भाग्य उत्तम था कि, जिससे राजा का उस पर ही अनन्य प्रेम था ॥ ८ ॥

निष्कंटकाधिराज्योऽयं, राजा राज्ञीमनारतम् ।
रमयन्नान्यदज्ञासीत्, प्राज्ञप्राग्रहरोऽपि सन् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थौं—निष्कंटकाधिराज्यः = शत्रु भय आदि से रहित है राज्य जिसका ऐसा, अय = यह, राजा = सत्यधर राजा, प्राज्ञप्राग्रहर. = विद्वानो में अग्रेसर, सन् = होता हुआ, अपि = भी, अनारत = सदा, राज्ञी = रानी को, रमयन् = रमाता हुआ, अन्यत् = और कुछ, न = नही, अज्ञासीत् = जानता था ॥९॥

भावार्थ—यद्यपि सत्यंधर राजा का राज्य शत्रु भय आदि से रहित था और वह स्वय अद्वितीय विद्वान भी था, परन्तु वह रानी के साथ विषय भोग करने मे ही सदा आसक्त रहता था । इसी लिये राज्य पाट की कुछ भी सम्हाल नहीं करता था ॥ ९ ॥

विषयासक्तचित्तानां, गुणः को वा न नश्यति ।
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥ १० ॥

अन्वयार्थौं—विषयासक्त चित्तानाम = विषयभोगो मे लवलीन है मन जिन्हो का ऐसे, (जनानाम् = मनुष्यो का), कः = कौनसा, गुण. = गुण, न = नहीं, नश्यति = नष्ट होजाता है । किन्तु सर्व गुणा नश्यंति । तेषु = उनमें, न = नतो, वैदुष्य = पण्डितपना, (तिष्ठति) = ठहरता है, न = न, मानुष्य = मनुष्य पना, तिष्ठति, न = न, आभिजात्य = कुलीनपना, तिष्ठति, च = और, न = न, सत्यवाक् = सत्यवाणी, अपि = भी, तिष्ठति ॥१०॥

भावार्थ—जो मनुष्य विषय भोग मे आसक्त हो जाता है, उसके प्राय. सभी गुणों की इतिश्री हो जाती है । अर्थात् ऐसे मनुष्यों में

विद्वत्ता, मनुष्यता, कुलीनता और सत्यता आदि एक भी गुण नहीं रहता, तात्पर्य यह है कि विषयी सत्यधर के भी सब गुण कूच गये थे ॥१०॥

पराधनजाद् दैन्यात्, पैशून्यात्–परिवादतः ।
पराभवात्किमन्येभ्यो, न बिभेति हि कामुकः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थौ—कामुक = विषयासक्त मनुष्य, पराराधनजात् = दूसरे की खुशामद से उत्पन्न, दैन्यात् = दीनता से, पैशून्यात् = चुगली से, परिवादत. = निन्दा से, (च) = और, पराभवात् = तिरस्कार से, न = नहीं, बिभेति = डरता है, (पुन.) = फिर, अन्येभ्यः = और बातों से, किम् = क्या, भेष्यति = डरेगा । न भेष्यतीत्यर्थ ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विषय भोगों में आसक्त हो जाता है वह उसके कारण होने वाली अपनी दीनता, चुगली, बदनामी और अपमान आदि की जरा भी पर्वाह नहीं करता है । निष्कर्षार्थः–कामी सत्यंधर ने भी इनकी पर्वाह न की और दिनों दिन विषयासक्त होता गया ॥११ ॥

पाकं त्यागं विवेकं च. वैभव मानितामपि ।
कामार्ताः खलु मुंचन्ति, किमन्यैः स्वञ्च जीवितम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—कामार्ता. = विषय भोग की इच्छा से पीड़ित जीवा. = जीव, पाकं = भोजन को, त्यागं = दान को, विवेकं = कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार को, वैभव = सम्पत्ति को, (च) = और, मानिताम् = पूज्यता को, अपि = भी, मुञ्चन्ति = छोड़ देते हैं ॥१२॥

भावार्थ.—कामासक्त जीव भोजन, दान, विवेक, धन दौलत और बड़प्पन आदि का जरा भी ख्याल नहीं करते। और की बात क्या वे अपने जीवन तक की भी पर्वाह नहीं करते हैं। अर्थात् भोग विलास के पीछे अपनी जान पर भी पानी फेर देते है। निष्कर्षार्थ-भोगासक्त सत्यंधर ने भी इन बातों की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया॥ १२॥

पुनरैच्छदयं दातुं, काष्ठाङ्गाराय काश्यपीम्।
अविचारितरम्यं हि, रागान्धानां विचेष्टितम्॥ १३॥

अन्वयार्थौ—पुन = फिर, अथ = यह सत्यंधर, काष्ठांगाराय = काष्ठागार के लिये, काश्यपीम् = पृथिवी को, दातुम् = देने को, ऐच्छत् = इच्छा करता हुआ। नीति—हि = क्योंकि, रागान्धानाम् = विषयों मे मोहित, जनानाम् = मनुष्यों का, विचेष्टितम् = कार्य, अविचारितरम्यम् = विना विचार किये ही अच्छा, भवति = प्रतीत होता है॥ १३॥

भावार्थ:— जब कि विषयो मे मोहित जन कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार किए बिना ही स्वकृत कार्य को अच्छा मानते हैं। अतएव सत्यंधर ने विषयासक्त हो पूर्वा पर विशेष विचार किये बिना ही काष्ठाङ्गार को राज्य देने का दृढनिश्चय कर लिया॥ १३॥

तावता तं समभ्येत्य, मन्त्रिमुख्या अबूबुधन्।
देव दैवैरपि ज्ञात, विज्ञाप्यं श्रूयतामिदम्॥ १४॥

अन्वयार्थौ—तावता = उसी समय, मन्त्रिमुख्या = सत्यंधर के प्रधान प्रधान मंत्री, समभ्येत्य = पास आकर, तम् = उस राजा

को, अबूबुधन्=समझाते हुये। (यत्)=कि, देव=हेराजन्, देवैः=आपके द्वारा, ज्ञात=जाना हुआ, अपि=भी, इदम्=यह, विज्ञाप्यं=समाचार, श्रूयताम्=सुनिये ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस समय सत्यंधर ने काष्ठांगार को राज्य देने की इच्छा की, उसी समय पता चलते ही उसके कई प्रमुख मन्त्री उसके पास आये और समझाने लगे कि हे राजन् जो बात हम कहेंगे, उसे आप भली प्रकार जानते ही हैं फिर भी कृपया हमारे वक्तव्य को सुनिये ॥१४॥

हृदयं च न विश्वास्यं, राजभिः किं परो नरः।
किंतु विश्वस्तवद्दृश्यो, नटायन्ते हि भूभुजः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थौ—राजभिः=राजाओं के द्वारा, हृदय=अपना हृदय, अपि=भी, न विश्वास्यं=विश्वास करने के योग्य नहीं होता है। (पुनः)=फिर, परः=अन्य, नरः=मनुष्य, विश्वास्य किं=विश्वास करने के योग्य हो सकता है क्या? अर्थात् नहीं। किन्तु, हां उसे, विश्वस्तवद्दृश्य=औरों को विश्वस्त के समान (अवश्य) देखना चाहिये। नीतिः—हि=क्योंकि, भूभुजः=राजा लोग, नटायन्ते=नट के समान आचरण करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ.—राजा लोगों को जब अपने हृदय का भी विश्वास नहीं करना चाहिए, तो फिर दूसरे मनुष्यों का तो कहना ही क्या है? किन्तु दूसरे मनुष्यों के समक्ष जैसे नट अपने अभिनय (भेष) को इस खूबी से बनाता है कि उन दर्शकों को उसकी असलियत का ज़रा भी पता नहीं चल पाता है, उसी प्रकार राजा भी ऐसा व्यवहार करे कि, दूसरे लोग यह समझें कि राजा तो हमारा बहुत विश्वास करता है। तात्पर्य

यह है कि आप भी राजा है अतएव आपको भी काष्ठागार का इतना विश्वास न करना चाहिये ॥ १५ ॥

परस्पराविरोधेन, त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।
अनर्गलमतः सौख्य, मपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थौ—यदि = अगर, परस्पराविरोधेन = एक दूसरे के विरोध के बिना, त्रिवर्गः = धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ, सेव्यते = सेवन किये जांय, तर्हि = तो, अन[र्गल]म् = बाधा रहित, सौख्यं = सुख, भवेत् = मिलता है, च = और, अनुक्रमात् = क्रम से, अपवर्गः = मोक्ष, अपि = भी, भवेत् = प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को नियत समयानुसार एक दूसरे के विरोध रहित सेवन करता है, वह निर्बाध सुख को पाता है और परम्परया मोक्ष भी पा लेता है ॥१६॥

ततस्त्याज्यौ न धर्मार्थौ, राजभिः सुखकाम्यया ।
अदः काम्यति देवश्चे, दमूलस्य कुतः सुखम् ॥ १७ ॥

अन्वयार्थौ—ततः = इस लिये, राजभिः = राजाओ के द्वारा, सुखकाम्यया = सुख प्राप्त करने की इच्छा से, धर्मार्थौ = धर्म और अर्थ पुरुपार्थ, न = नहीं, त्याज्यौ = छोड़े जाना चाहिये। च = और, चेत् = यदि, देव = आप, अदः = इस सुख को, काम्यति = चाहते हैं। तर्हि = तो, भवद्भिः = आपके द्वारा, अपि = भी, धर्मार्थौ न त्याज्यौ = धर्म और अर्थ पुरुपार्थ नहीं छोड़े

जाना चाहिये। नीति–हि=क्योंकि, अमूलस्य=बिना सुखम्=सुख, कुत=कैसे, सम्भवति=हो सकता है।

भावार्थः—जब कि तीनो पुरुषार्थों के निर्बाध पालन से ही सुख और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है, तो सुख को चाहने वाले राजाओं का कर्तव्य है कि वे केवल कामासक्त हो धर्म और अर्थ इन दोनो पुरुषार्थोंका सेवन करना न छोड़ें। और आप भी राजा हैं, इससे आपको भी कामासक्त हो धर्म पालन और राज्य की सम्हाल करना नहीं छोड़ना चाहिये। अन्यथा सारे विषय सेवन पर पानी फिर जावेगा॥ १७॥

नाशिनं भाविनं प्राप्यं, प्राप्ते च फलसन्ततिम्।

विचार्यैव विधातव्य, मनुतापोऽन्यथा भवेत्॥ १८॥

अन्वयार्थौ—(प्राप्यम्)=पाने योग्य वस्तु को, नाशिनं=नष्ट होने वाली, भाविन=फिर पैदा होने वाली, च=और, तस्मिन्=उस वस्तु के, प्राप्ते=प्राप्त हो जाने पर, भव्याम्=होने वाले, फलसंततिम्=फलों की परम्परा को, विचार्य=विचार कर, एव=ही, कार्यम्=तद्विषयिककार्य, विधातव्यम्=करना चाहिये। अन्यथा=नहीं तो, अनुताप=पश्चात्ताप, भवेत्=होता है॥१८॥

भावार्थः—संसार की प्राप्त करने योग्य प्रत्येक वस्तु पूर्व पर्याय की अपेक्षा नष्ट और भविष्यत्पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न होती है तथा उसके पालेने पर क्या फल होगा, इत्यादि विचार कर ही किसी वस्तु को पाने का कार्य करना चाहिये। यदि पूर्वोक्त विचार बिना ही कार्य किया जावेगा, तो पश्चात्ताप होगा और कार्य

करना विफल होगा। इस प्रकार मन्त्रियों ने सत्यन्धर को बहुत कुछ समझाया ॥ १८ ॥

इति प्रबोधितोऽप्येष, भूपो राज्ञां न्यवेशयत् ।
काष्ठाङ्गारमहो मोहात्, बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥ १९ ॥

अन्वयार्थौ—अहो=आश्चर्य की बात है, (यत्)=कि, इति= पूर्वोक्त रीति से, प्रबोधितः समझाया गया, अपि=भी, एषः=यह सत्यंधर राजा, मोहात्=अज्ञानता से, काष्ठाङ्गारम्= काष्ठाङ्गार को, राज्ञाम्=राजाओं के, भूपे=अग्रभाग में, न्यवेशयत्=नियुक्त करता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, बुद्धिः= विचार, कर्मानुसारिणी=कर्मों के अनुकूल, भवति=होता है ॥१९

भावार्थ—यद्यपि मन्त्रियों ने सत्यन्धर राजा को बहुत कुछ समझाया पर उसने अज्ञानता से अपनी हठ न छोड़ी और काष्ठांगार को सब राजाओं का प्रधान बना ही दिया। नीतिकार कहते हैं, कि बुद्धि भवितव्य के अनुकूल ही होती है। अतएव सत्यन्धर का भवितव्य का उदय था, इससे उसके भी ऐसी बुद्धि उपजी, जिससे उसने काष्ठांगार को राज का प्रधान नेता बना ही दिया ॥ १९ ॥

विषयान्ध-विचारेण, विरक्तानां नृपस्य तु ।
प्रकृष्यमाणरागेण, कालो विलयमीयिवान् ॥ २० ॥

अन्वयार्थौ—विरक्तानां विषयों से विरक्त पुरुषों का, कालः=समय, विषयान्धविचारेण=विषयों में अन्धता के विचार में, विलयं=विनाश को, ईयिवान्=प्राप्त होता है। तु=किन्तु, नृपस्य=राजाओं का, कालः=समय, प्रकृष्यमाणरागेण= बढ़ते हुये अनुराग से, विलयम्. ईयिवान्=नाश को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विषयों से विरक्त होते हैं, वे सदा विषय परित्याग के उपायों की खोज एवं क्रिया में ही अपना समय लगाते हैं किन्तु (विषयासक्त) राजा, विषयों की चाह और प्राप्ति के उपायों में ही अपने जीवन की घड़िया बरबाद करते रहते हैं। तदनुसार विषयी सत्यंधर ने विषयासक्त हो बरबाद होते हुये अपने जीवन कालका जरा भी विचार नहीं किया ॥ २० ॥

सा तु निद्रावती स्वप्न,-मद्राक्षीत्क्षणदाक्षये ।
अस्वप्नपूर्वं जीवानां, न हि जातु शुभाशुभम् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थौ—तु=और, निद्रावती=नीद में सोती हुई, सा=वह विजया रानी, क्षणदाक्षये=रात्रि के पिछले भाग मे, स्वप्नम्=तीन स्वप्नो को, अद्राक्षीत्=देखती हुई। नीति.—हि=क्योंकि, जीवाना=मनुष्यो के, अस्वप्नपूर्वम्=स्वप्न के हुये बिना, शुभाशुभम्=शुभ और अशुभ कार्य, जातु=कभी, न=नहीं, भवति=होता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—प्रत्येक शुभाशुभ कार्य के पूर्व में मनुष्य को प्राय. कोई स्वप्न अवश्य आया करता है। अतएव विजया को भी भावी शुभ और अशुभ सूचक तीन स्वप्न दिखलाई दिये ॥ २१ ॥

वैभातिकविधेरन्ते, विभोरान्तिकमीयुषी ।
अर्धासननिविष्टेय,-मभाषिष्ट च भूभुजः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थौ—वैभातिकविधेः=प्रातःकालिक क्रियाओ के, अन्ते=समाप्त होने पर, विभो.=राजा के, अन्तिकम्=पास को, ईयुषी=प्राप्त हुई, च=और, अर्धासननिविष्टा=आधे

आसन पर बैठी हुई, इयम् = यह विजया रानी, भूभुज. = राजा से, स्वप्नम् = तीनों स्वप्नों का, अभाषिष्ट = कहती हुई ॥ २२ ॥

भावार्थ:—विजया रानी शौच और दातोन आदि प्रातःकाल सम्बन्धी क्रियाओं से निवृत्त होकर पति के पास आई और उसके अर्धासन पर बैठ कर अपने स्वप्नों का समाचार सुनाने लगी ॥ २२ ॥

श्रुत्वा स्वप्नत्रयं राजा, ज्ञात्वा च फलमक्रमात् ।
प्रतिवक्तुमुपादत्त, किञ्चिन्न्यञ्चन्मना भवन् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थौ—राजा = सत्यंधर राजा, स्वप्नत्रयं = तीनों स्वप्नो को, श्रुत्वा = सुनकर, च = और, फलम् = फलों को, ज्ञात्वा = जानकर, किंचित् = कुछ, न्यञ्चन्मना = खिन्न मन वाला, भवन् = होता हुआ, अक्रमात् = अक्रम से, प्रतिवक्तुम् = उत्तर देने को, उपादत्त = प्रारम्भ करता हुआ ॥ २३ ॥

भावार्थः—सत्यन्धर राजा अपनी रानी के तीनों स्वप्नों का सुन कर उनके फलों को जान कर अपनी मृत्यु का निश्चय कर कुछ तो दुखी हुआ, पीछे क्रम भंग कर स्वप्नो का फल कहने लगा ॥२३॥

पुत्रमित्रकलत्रादौ, सत्यामपि च संपदि ।
आत्मीयापायशंका हि, शंकु प्राणभृता हृदि ॥ २४॥युग्मम्॥

अन्वयार्थौ--हि = क्योकि, पुत्रमित्रकलत्रादौ = पुत्र, मित्र और स्त्री आदिक, सम्पदि = सम्पत्ति के, सत्याम = होने पर, अपि = भी, आत्मीयापायशंका = अपने विनाश की शका, प्राणभृतां = जीवों के; हृदि = हृदय मे, शंकु = कांटे के समान, दुखयति = दुख देती है ॥ २४ ॥

भावार्थ —पुत्रादि विशाल कुटुम्ब और अटूट सम्पत्ति के होने पर भी मनुष्य को अपने मरण की शंका शरीर में चुभे हुये कांटे के समान दुःख देती है। अतएव सत्यन्धर भी स्वप्न के फल से अपनी मृत्यु निश्चित कर असह्य दुःखानुभव करता हुआ ॥ २४ ॥

देवि दृष्टस्त्वया स्वप्ने, बालाशोकः समौलिकः।
आचष्टे सोदर्यं सुनु,—मष्टमालास्तु तद्वधूः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थौ—देवि = हे रानी, त्वया = तेरे द्वारा, स्वप्ने = स्वप्न में, दृष्टः = देखा गया, समौलिकः = मुकुट सहित, बालाशोकः = छोटा अशोक वृक्ष, सोदर्यं = भाग्यशाली, सुनुम् = पुत्र को, आचष्टे = सूचित करता है, तु = और, अष्टमालाः = आठ मालायें, तद्वधूः = उसके आठ स्त्रियों को, (आचक्षते) = सूचित करती हैं ॥ २५ ॥

भावार्थः—अब सत्यंधर राजा स्वप्नों का फल सुनाता है कि हे रानी तुमने जो "मुकुट सहित छोटा अशोक वृक्ष" देखा है, उसका फल यह है कि तुम्हारे एक भाग्यशाली पुत्र होगा और 'आठ मालाओं" के देखने का फल यह है कि उस पुत्र के आठ स्त्रियां होवेंगी ॥ २५ ॥

आर्यपुत्र ततः पूर्वं, दृष्टनष्टस्य किम्फलम्।
कंकेलेरिति चेद्देवि, कथयत्येष किञ्चन ॥ २६ ॥

अन्वयार्थौ—आर्यपुत्र = हे स्वामिन्, ततः = उन दोनों स्वप्नों से, पूर्वं = पहले, दृष्टनष्टस्य = पहिले दृष्टि गोचर हुये और पीछे नष्ट हुये, कङ्केलेः = अशोक वृक्ष का, किम् = क्या, फलम् = फल, अस्ति = है, देवि = हे रानी, चेत् = यदि, इति = ऐसा पूछती हो

[illegible]=तो, एषः=यह स्वप्न, अपि=भी, किंचन=कुछ, कथयति=कहता है ॥ २६ ॥

भावार्थ.—पश्चात् रानी ने कहा कि हे स्वामिन् ! अन्य दो [illegible] तो जाना, पर पहिले यह तो कहिये कि "पहिले देखे [illegible] तत्काल नष्ट हुये अशोक वृक्ष" के देखने का फल क्या [illegible] राजा ने उत्तर दिया कि यह स्वप्न भी कुछ (मेरा मरण) [illegible] करता है । अर्थात् इस स्वप्न का फल कटुक था, जिससे राजा ने स्पष्ट नहीं किया ॥ २६ ॥

इतीशवाक्यं शुश्रूषी, महिषी भुवि पेतुषी ।
मूर्च्छिता तन्मुखग्लाने र्वक्त्रं वक्ति हि मानसम् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थौ—इति=इस प्रकार, ईशवाक्यम्=स्वामी के वचन को, शुश्रूषी=सुनने वाली, महिषी=पटरानी, तन्मुखग्लानेः=राजा के मुख की मलीनता से, मूर्च्छिता=मूर्च्छित, सती=होती हुई, भुवि=पृथ्वी पर, पेतुषी=गिर पड़ी । नीतिः—हि=क्योंकि, वक्त्र=मुख की आकृति, मानसम्=मन के भाव को, वक्ति=प्रगट कर देती है ॥ २७ ॥

भावार्थ—'यह स्वप्न भी कुछ सूचित करता है' इस प्रकार राजा का संदेह जनक वचन सुनकर और राजा के मुख को कुछ मलीन (फीका) देखकर विजया रानी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी । नीतिकार कहते हैं कि मुख की आकृति आन्तरिक अभिप्राय को स्पष्ट कर देती है । अतएव यद्यपि सत्यंधर ने अपने मरण की बात स्पष्ट नहीं कही थी, तो भी राजा के मुख के मालिन्य से विजया ने परख लिया कि इस स्वप्न का फल कुछ कटुक अवश्य है ॥ २७ ॥

तन्मोहान्मोहितो राजा, तामेवायमबूबुधत् ।
सत्यामप्यभिषंगार्तौ, जागर्त्येव हि पौरुषम् ॥२८॥

अन्वयार्थौ—तन्मोहात्=उस विजया रानी विषयिक अनुराग से, मोहित.=अनुरक्त, अय=यह, राजा=सत्यंधर राजा, ताम्=उस विजयरानी को, एव=ही, अबूबुधत्=समझाता हुआ। नीति—हि=क्योंकि, अभिषङ्गार्तौ=ससर्ग मे होने वाली पीड़ा के, सत्याम्=होने पर, अपि=भी, पौरुषम्=पुरुषत्व, जागर्ति एव=जागृत ही रहता है ॥२८॥

भावार्थः जब कि असह्य अभिनव पीडा के उपस्थित हो जाने पर भी महा पुरुषों का विवेक नष्ट नहीं होता है, अतएव धीर सत्यंधर भी स्वमृत्यु ज्ञान रूप नूतन पीडा के उपस्थित होने पर भी पुरुषत्व से हीन नहीं हुआ और उसने विजया को भी निम्न प्रकार धैर्य बँधाया ॥ २८ ॥

स्वप्नदृष्टकृते सद्यो, नष्टासु किं तनोपि माम् ।
न हि रक्षितुमिच्छन्तो, निर्दहान्ति फलद्रुमम् ॥२९॥

अन्वयार्थौ—स्वप्नदृष्टकृते=स्वप्न के देखने मात्र से, सद्य=शीघ्र, माम्=मुझको, नष्टासु=मरा हुआ, किम्=क्यों, तनोपि=समझती हो। नीति—हि=क्योंकि, फलद्रुमम्=फलयुक्त वृक्ष को, रक्षितुं=रक्षा करने को, इच्छन्त=चाहने वाले, जना=मनुष्य, तम्=उस वृक्ष को, न=नहीं, निर्दहन्ति=जलाते हैं ॥ २९ ॥

भावार्थ—सत्यधर राजा विजया रानी को समझाता है कि हे देवी! जो व्यक्ति फल फूलों से हरे भरे वृक्ष की रक्षा करना चाहता

है वह उसको जलाता नहीं है, किन्तु खात और सिंचन आदि से उसकी रक्षा ही करता है। उसी प्रकार तुम भी यदि मेरी कुशल चाहती हो तो स्वप्न देखने मात्र से मेरे अशुभ की आशंका करना तुम्हें भी उचित नहीं है ॥ २९ ॥

विपदः परिहाराय, शोकः किं कल्पते नृणाम् ।
पावके न हि पातः स्या–दातपक्लेशशान्तये ॥३०॥

अन्वयार्थौ—यतः = क्योंकि, विपद = विपत्ति के परिहाराय = दूर करने के लिये, नृणाम् = मनुष्यो के, शोकः = रंज, कल्पते किम् = उचित है क्या, अपि तु न = किन्तु नहीं। नीतिः—हि = क्योंकि, आतपक्लेशशान्तये = गर्मी की पीड़ा को शान्त करने के लिये, पावके = अग्नि में, पातः = गिरना, न = नहीं, स्यात् = होता है ॥३०॥

भावार्थः—राजा समझाता है कि जिस प्रकार गर्मी से सताया हुआ मनुष्य उसको शान्त करने के लिये अग्नि में नहीं गिरता है, किन्तु व्यजनवायु या छाया आदि का सहारा ही लेता है। उसी प्रकार विपत्ति को दूर करने के लिये तुझे भी शोक करना उचित नहीं। क्योंकि शोक से तो विपत्ति की वृद्धि ही होती है। उसको दूर करने के लिये तो विपत्ति नाशक उपायों की तलाश ही करना चाहिये ॥ ३० ॥

ततो व्यापत्प्रतीकारं, धर्ममेव विनिश्चिनु ।
प्रदीपे दीपिते देशे, न ह्यस्ति तमसो गतिः ॥३१॥

अन्वयार्थौ—ततः = इस लिये, व्यापत्प्रतीकरं = आपत्ति के नाशक, धर्मम् = धर्म को, एव = ही, विनिश्चिनु = उपार्जन

करो। नीति—हि=क्योकि, प्रदीपै.=दीपको से, दीपिते= प्रकाशित, देशे=स्थान में, तमस.=अन्धकार की, गतिः= सत्ता, न=नहीं, अस्ति=हो सकती है ॥३१॥

भावार्थ:—राजा और भी समझाता है कि, जिन स्थान पर दीपक का प्रकाश होता है, वहां पर अन्धकार अपना पग नहीं बढ़ा सकता है। उसी प्रकार जो धर्म को पालता है, उस पर आपत्ति भी नहीं आ सकती है। किन्तु खेद करने से विपत्ति ही बढ़ती है। इसलिये खेद को छोड़ धर्म पालन करना चाहिये। जिससे आई हुई आपत्ति दूर हो ॥ ३१ ॥

इत्यादिस्वामिवाक्येन, लब्धाश्वासा यथापुरम् ।

पत्या साकमसौ रेमे, दुःखचिन्ता हि तत्क्षणे ॥३२॥

अन्वयार्थौ—इत्यादिस्वामिवाक्येन=स्वामी के इस प्रकार के उपदेश से, लब्धाश्वासो=प्राप्त होगई है तसल्ली (सन्तोप) जिसको ऐसी, असौ=यह विजयारानी, पत्या साकम्= पति के साथ, यथापुरम्=पूर्व सदृश, रेमे=विषयभोग करने लगी। नीति—हि=क्योंकि, दु.खचिन्ता=दुःख की याद, तत्क्षणे=दु ख के समय में, एव=ही, भवति=होती है ॥३२॥

भावार्थ:—सत्यंधर राजा के पूर्वोक्त उपदेश से संतुष्ट होकर विजया रानी उसके साथ पूर्व की तरह भोग भोगने लगी। नीति कार कहते हैं कि-दु ख की याद दु.ख के समय में ही होती है। किन्तु कार्यान्तर में सलग्न होने पर सारा दु.ख भूल जाता है। अतएव जब वे दोनो फिर से भोगों में आरूढ़ हो गये, तब इनका भी सारा दु ख कूच कर गया ॥ ३२ ॥

अथ प्रबोधितं स्वप्ना-दप्रबुद्धममुं पुनः ।
बोधयन्तीव पत्नीयं-मन्तर्वत्नीधुरां दधौ ॥३३॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके अनन्तर, स्वप्नात् = स्वप्न से, (पूर्वम्) = पहिले, प्रबोधितम् = सचेत किये गये, च = और, पुनः = फिर, अप्रबुद्धम् = भूले हुये, अमुम् = इस राजा को, पुनः = फिर, बोधयन्ती इव = सचेत कराती हुई के समान, इयम् = यह विजया रानी, अन्तर्वत्नीधुरां = गर्भवती के भार को, दधौ = धारण करती हुई ॥३३॥

भावार्थः—इस विजया रानी ने अशुभ स्वप्न से उस सत्यंधर राजा को 'अब तुम्हारी मृत्यु होगी इस प्रकार' पहिले सचेत कर ही दिया था, किंतु जब वह फिर से विषयों में लीन होने के कारण उस बात को भूल गया, तब विजया ने उसे सचेत करने के लिये ही मानो गर्भ धारण किया ॥ ३३ ॥

सदोहलामिमां वीक्ष्य, दुःस्वप्नफलनिश्चयात् ।
अनुशेते स्म राजाय-मात्मरक्षापरायणः ॥३४॥

अन्वयार्थौ—अयम् = यह, राजा = सत्यंधर राजा, इमाम् = इस विजया रानी को, सदोहलाम् = गर्भवती, वीक्ष्य = देख कर, दुःस्वप्नफलनिश्चयात् = खोटे स्वप्न के फल के निश्चय से, आत्मरक्षापरायणः = अपनी रक्षा करने में तत्पर, (सन्) = होता हुआ, अनुशेते स्म = पश्चात्ताप करने लगा ॥३४॥

भावार्थः—यह सत्यंधर राजा अपनी रानी को गर्भवती देख कर अब मेरे मरने का समय नजदीक है, ऐसा विचार कर अपनी रक्षा की कोशिश करता हुआ निम्न प्रकार पश्चात्ताप करने लगा ॥३४॥

मन्त्रिणां लंघितं वाक्य-मभाग्येन मया मुधा ।
विपाके हि सतां वाक्यं, विश्वसन्त्यविवेकिनः ॥३५॥

अन्वयार्थौ—अभाग्येन = अभागी, मया = मैंने, मन्त्रि-णाम् = मन्त्रियों का, वाक्यम् = वचन, मुधा = व्यर्थ, लंघितम्, उल्लंघन किया । नीतिः—हि = निश्चय से, अविवेकिनः = विवेकहीन पुरुष सताम् = सज्जनों के, वाक्यं = वचन को, विपाके = दुःख आ पड़ने पर, विश्वसन्ति = विश्वास करते हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—अविवेकी जन आपत्ति के आजाने पर ही सज्जनों के वचन का विश्वास करते हैं कुशलता के समय नहीं । इसलिये अविवेकी सत्यंधर भी 'काष्ठागार को राज्य न दीजिए, स्वयं सम्हाल कीजिए' इस प्रकार हितकारी मन्त्रियों के वचन को न मान कर मृत्यु के पंजे में फसने पर उनकी याद कर पश्चात्ताप करने लगा कि मैंने अभाग्यवश मन्त्रियों के हितकारी वचन का व्यर्थ उलंघन किया ॥ ३५ ॥

न ह्यकालकृता वाञ्छा, सम्पुष्णाति समीहितम् ।
किं पुष्पावचयः शक्यः, फलकाले समागते ॥३६॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से अकालकृता = असमय में की गई, वाञ्छा = इच्छा, समीहितम् = मनोरथ को, न = नहीं, सम्पुष्णाति = पूर्ण करती है । यथा = जैसे, फलकाले = फल देने के समय के समागते = आ जाने पर, पुष्पावचयः = फूलों का चुनना, शक्यः किम् = हो सकता है क्या ? अपितु न = किन्तु नहीं ॥ ३६ ॥

भावार्थ.—राजा विचार करता है कि जिस प्रकार वृक्ष में फल आजाने पर फूल नहीं मिल सकते हैं। उसी प्रकार असमय में की गई इच्छा भी पूर्ण नहीं होती है। अतएव मन्त्रियों के वचन के मानने का जब मौका था, तब तो मैंने माना नहीं, अब इसके मानने की चाह करने से क्या लाभ है॥ ३६॥

इत्यार्तो वंशरक्षार्थं, केकियन्त्र-मचीकरत्।
आस्था सतां यशःकाये, न ह्यस्थायिशरीरके ॥३७॥

अन्वयार्थों—इति = पूर्वोक्त रीति से, आर्त. = खिन्न वह सत्यंधर राजा, वंशरक्षार्थम् = वंश की रक्षा के लिये, केकियन्त्रम् = मयूराकृतियन्त्र (हवाई जहाज) को, अचीकरत् = बनाता हुआ। नीति.—हि = क्योंकि, सताम् = सज्जनों का, आस्था = विश्वास, यशःकाये = कीर्तिरूपी शरीर में, एव = ही, भवति = होता है, अस्थायिशरीरके = नश्वर औदारिक शरीर में, न = नहीं, भवति = होता है॥ ३७॥

भावार्थ.—उदार महापुरुष कीर्तिरूपी स्थायी शरीर में ही प्रेम करते हैं नश्वर मनुष्यदेह में नहीं। अतएव महाराजा सत्यंधर ने भी स्वमरण का दुःख छोड़ वंश की रक्षा के लिये हवाई जहाज बनवाया और उसके द्वारा अपनी अविच्छिन्न सन्तान परम्परा से फैलने वाली कीर्ति की इच्छा की॥ ३७॥

आक्रीडे दौहदक्रीडा-मनुभोक्तुं विशां-पतिः।
व्यजीहरच्च यन्त्रस्थां, पत्नीं वर्त्मनि वार्मुचाम् ॥३८॥

अन्वयार्थों—विशांपति. = राजा, आक्रीडे = बगीचे में, दौहदक्रीडाम् = गर्भवती रानी की इच्छित क्रीडा को, अनुभोक्तुम् =

भोगने के लिये, पत्नीम्=स्त्री को, यन्त्रस्थां=यंत्र (हवाई जहाज) में स्थित, कृत्वा=करके, वामुचाम्=मेघों के, वर्त्मनि=मार्ग में, व्यजीहरत्=विहार करता हुआ ॥ ३८ ॥

भावार्थ.—सत्यंधर राजा, विजया रानी के दोहद (गर्भ कालीन मनोरथ) को पूर्ण करने के लिए राजोद्यान में उसकी इच्छानुसार अनेक क्रीडाएं करता हुआ उसे हवाई जहाज में बिठाकर आकाश में उड़ाने का अभ्यास करने लगा ॥ ३८ ॥

तावतैव कृतघ्नाख्यां राजघाख्या च साधयन् ।
स्वविधेया भुव चेति, काष्टांगारो व्यचीचरत् ॥३९॥

अन्वयार्थौ—तावता=उसी समय, एव=ही, कृतघ्नाख्याम्=कृतघ्न नाम को, च=और, राजघाख्यां=राजघातक नाम को, च=और, भुवम्=पृथिवी को, स्वविधेयाम्=अपने आधीन, साधयन्=साधन करता हुआ, काष्ठागारः=काष्ठागार, इति=वक्ष्यमाण रीति से, व्यचीचरत् = विचार करता हुआ ॥ ३९ ॥

भावार्थ.—जब राजा और रानी दोहद क्रीडाओं को करने लगे, तब काष्ठागार ने 'कृतघ्न' और 'राजघातक' नाम पाने के योग्य बनते हुए राज्य का स्वतंत्र सर्वे सर्वा बनने की इच्छा से निम्न विचार किया ॥३९॥

जीवितात्तु पराधीना, ज्जीवाना मरणं वरम् ।
मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं, वितीर्णं केन कानने ॥४०॥

अन्वयार्थौ—पराधीनात्=दूसरे के आधीन, जीवितात्=जीने से, जीवानाम्=जीवों का, मरणम्=मर जाना, एव=ही, वरम्=कुछ अच्छा, अस्ति=है। हि=क्योंकि, कानने=

वन मे, मृगेन्द्रस्य=सिंह के, मृगेन्द्रत्वम्=वनचर पशुओं का स्वामीपना, केन=किसने, वितीर्णम्=दिया है । अपितु केनापि न=अर्थात् किसी ने नहीं ॥ ४० ॥

भावार्थ—काष्ठांगार विचार करता है कि पराधीन रहने की अपेक्षा तो जीवो का मर जाना ही अच्छा है । इसलिये मुझे भी सत्यंधर के आधीन रहना अच्छा नहीं । और जैसे जंगल में सिंह अपने बल और विक्रम द्वारा ही सर्व चौपायों का राजा बन बैठता है किसी के बनाने से नहीं । उसी प्रकार मुझे भी पुरुषार्थ कर राजा को मार कर एकाधिकारी बन कर ही विश्राम लेना चाहिए । क्यो कि जब तक राजा जीवित है तब तक मेरी पूरी दाल नहीं गल पाती है ॥ ४० ॥

अचीकथच्च मन्त्रिभ्यो, राजद्रोहो विधीयताम् ।
इति राजद्रुहा नित्यं, दैवतेनाभिधीयते ॥४१॥

अन्वयार्थौ—काष्ठांगार, राजद्रुहा=राजा के साथ द्वेष करने वाले, दैवतेन=देवसमूह के द्वारा, राजद्रोहः=सत्यंधर राजा के साथ विद्रोह, विधीयताम्=करना चाहिये, इति=इस प्रकार, नित्यं=सदा, (अहम्=मैं) अभिधीयते=कहा जाता हूँ, इति=इस प्रकार, मन्त्रिभ्यः=मन्त्रियो से, अचीकथत्=कहता हुआ ॥ ४१ ॥

भावार्थ—और पश्चात् उस काष्ठांगार ने कपट जाल रच मन्त्रियों से कहा कि राजद्रोही देवता नित्य ही आकर मुझसे कहते हैं कि तुमको सत्यंधर राजा के साथ युद्ध कर उसे मार कर स्वतंत्र राजा बन जाना चाहिए ॥ ४१ ॥

स्वन्तं किन्तु दुरन्तं वा, किमुदर्कं वितर्क्यताम् ।
अतर्कितमिदं वृत्तं, तर्करूढं हि निश्चलम् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थौ–अतर्कितम् = अविचारित, इदम्=यह, वृत्तम्=समाचार, स्वन्तम् किम्=अच्छे परिणाम वाला होगा क्या ? वा=अथवा, दुरन्तम् नु=खोटे परिणाम वाला होगा क्या ? वा=अथवा, किम् उदर्कम्=किस परिणाम वाला, स्यात्=होगा, इति=यह, वितर्क्यताम्=तुम सब को विचारना चाहिये। हि=क्योंकि, तर्करूढं=तर्क पर आरूढ़ बात, निश्चलम्=निश्चित, भवेत्=होजाती है ॥४२॥

भावार्थः—काष्ठागार ने अपने मन्त्रियों से कहा कि देवता जो सत्यधर के साथ द्रोह करने की प्रेरणा करता है, इसका अच्छा बुरा या कैसा परिणाम होगा इस पर आप सब विचार कीजिये। क्योंकि इस बात पर अब तक विचार नहीं किया गया है। विचार करने पर ही इसका परिणाम (फल) निश्चित होगा ॥४२॥

जिह्रेमि वक्तुमप्येत–दुक्ति-र्दैवभयादिति ।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्, कर्मण्यन्याद्धि पापिनाम् ॥४३॥

अन्वयार्थौ–अहम्=मैं, एतत्=इस देवोक्त बात को, वक्तुम्=कहने के लिये, अपि=भी, जिह्रेमि=लज्जित होता हूँ। किन्तु, दैवभयात्=देव के भय से, इति=यह, उक्ति= कहना है। नीति–हि=क्योंकि, पापिनाम्=पापियों के, मनसि=मनमें, अन्यत्=और. वचसि=वचन मे, अन्यत्= कुछ और, च=और, कर्मणि=कार्य मे, अन्यत्=कुछ और एव=ही, भवति=होता है ॥४३॥

भावार्थः–कपटी मनुष्य एक ही कार्य के विषय में मन में तो कुछ और विचारते है, वचन से कुछ और ही कहते हैं और

तद्विषयिक क्रिया किसी दूसरी प्रकार हो करते हैं। तदनुसार मायावी काष्ठांगार के मन में तो स्वयं सत्यन्धर के मारने की चाह थी पर कपट जाल रच मन्त्रियों से कहने लगा कि 'सत्यन्धर के साथ युद्ध करो' इस प्रकार दैव वचन को मुझे तो कहते हुये भी लज्जा आती है कि-(कोई क्या कहेगा) किन्तु दैव के भय से ही मुझे ऐसा कहने को विवश होना पड़ा है। अन्यथा न जाने दैव क्या बवाल उपस्थित करेगा ॥ ४३ ॥

तद्वाक्याद्वाच्यतो वंश्या, यमिनः प्राणि-हिंसनात् ।

क्षुद्रा दुर्भिक्षतश्चैव, सभ्याः सर्वे हि तत्रसुः ॥४४॥

अन्वयार्थौ—तद्वाक्यात्=काष्ठांगार के उस वचन से, वश्याः=कुलीन पुरुष, वाच्यतः=निन्दा से, यमिनः=साधुजन, प्राणिहिंसनात्=जीवघात से, च=और, क्षुद्राः=दीनपुरुष, दुर्भिक्षतः=अकाल से, एवम्=इस प्रकार, सर्वे=सब, सभ्याः=सज्जन पुरुष, तत्रसुः=डर गये ॥४४॥

भावार्थः—सत्यंधर के साथ युद्ध करने की इच्छा सूचक काष्ठाङ्गार के वचन को सुनकर कुलीन पुरुष निन्दा (ऐसी खोटी सलाह कैसे दी गैसी) से, साधुजन जीवघात (युद्ध में जीवघात अनिवार्य होने से) से क्षुद्र जन अकाल (ग्राम और धन दौलत जला देते, हड़ताल वगैरह होजाने तथा ग्राम छोड़ भाग जाने के कारण) से भीत हो गये। तथा विप्लव की सम्भावना कर सभी के होश हवास जाते रहे ॥ ४४ ॥

आत्मघ्नी धर्मदत्ताख्यः सचिवो वाचमूचिवान् ।

गाढा हि स्वामिभक्तिः स्या-दात्मप्राणानपेक्षिणी ॥४५॥

अन्वयार्थौ—नीतिः—हि = क्योकि, गाढा = अटल, स्वामिभक्ति = अपने स्वामी के प्रति प्रेम, आत्मप्राणानपेक्षिणी = अपने प्राणो की अपेक्षा न करने वाला, स्यात् = होता है। अत. = इस लिये, धर्मदत्ताख्यः = धर्मदत्त नामक, सचिवः = मन्त्री, आत्मघ्नीं = अपने प्राणों का विध्वंस कराने वाले, वाचम् = वचन को, उचिवान् = कहता हुआ ॥४५॥

भावार्थ.—जिस सेवक का अपने स्वामी के प्रति हार्दिक प्रेम होता है, वह उसके पीछे जान तक न्यौछावर करने को कटिबद्ध रहता है। तदनुसार अपने स्वामी राजा सत्यंधर के अनन्य भक्त धर्मदत्त मन्त्री ने भी ऐसा कहने पर काष्ठांगार मेरी क्या दुर्दशा करेगा, इसकी जरा भी पर्वाह न कर 'सत्यन्धर के साथ युद्ध करने का विचार करना सभ्यता और धर्म के अनुकूल नहीं, और खतरनाक भी है' इस प्रकार सूचक काष्ठांगार के विरुद्ध निम्न कथन किया ॥४५॥

राजानः प्राणिनां प्राणा–स्तेषु सत्स्वेव जीवनात् ।
तत्तत्र सदसत्कृत्यं, लोक एव कृत भवेत् ॥४६

अन्वयार्थौ—राजानः = राजा लोग, प्राणिनाम् = प्राणियो के, प्राणाः = प्राणस्वरूप, सन्ति = हैं, तेषु = उन राजाओं के, सत्सु = होने पर, एव = ही, जीवनात् = प्राणधारण रहने से, तत् = इस लिये, तत्र = उन राजाओं के विषय में, कृतम् = किया हुआ, सत् = अच्छा, च = और, असत् = बुरा, कृत्यम् = व्यवहार, लोके = जनता के विषय में, एव = ही, कृतम् = किया हुआ, भवेत् = होता है ॥४६॥

भावार्थ.—धर्मदत्त मन्त्री, काष्ठागार को समझता है कि—'अनायका विनश्यन्ति' इस नीति के अनुसार राजशून्य प्रजा का

कुशल नहीं होता है। निर्बलों को सबल समूचा ही उड़ाने को कटिबद्ध रहते हैं। इस लिये प्राणरक्षा के कारण होने से (कारण में कार्य के उपचार से) प्रजा के प्राण स्वरूप राजा के विषय में जो अच्छा या बुरा व्यवहार किया जाता है वह जनता पर ही किया हुआ समझना चाहिये। इस लिये तुम भी राजा का जो बुरा विचार रहे हो वह राजा का ही नहीं किन्तु समस्त जनता का बुरा सोचना है ॥४६॥

एवं राजद्रुहां हन्त, सर्वद्रोहित्व-सम्भवे।
राजध्रुगेव किं न स्यात्, पंचपातकभाजनम् ॥४७॥

अन्वयार्थौ—एवं = इस प्रकार उपर्युक्त युक्ति से, राजद्रुहाम् = राजद्रोहियों के, सर्वद्रोहित्वसम्भवे = समस्त जनता के साथ द्रोहीपन के सम्भव होने पर राजध्रुक् = राजद्रोही, पचपातकभाजनम् = पाँचो पापो का कर्त्ता, एव = ही, न स्यात् किम् = नहीं होता है क्या? अपि तु स्यात् एव = किन्तु होता ही है ॥ ४७ ॥

भावार्थ—धर्मदत्त मन्त्री, काष्ठांगार से कहता है कि—जो मनुष्य राजा से भी द्रोह करते नहीं डरता है वह अन्य मनुष्यों के साथ द्रोह करते तो डरेगा ही क्यों। इस लिये वह पाँचों पापों का करने वाला भी होता है, इस में कोई शंका नहीं रहती है। इस प्रकार अगर आप भी राजा के साथ द्रोह करेंगे तो पंच पातक के भाजन बनेंगे ॥ ४७ ॥

रक्षन्त्येवात्र राजानो, देवान्देहभृतोऽपि च।
देवास्तु नात्मनोऽप्येवं, राजा हि परदेवता ॥४८॥

अन्वयार्थौ—अत्र = इस लोक मे, राजानः = राजा लोग, देवान् = देवों की, च = और, देहभृतः = प्राणियो की, अपि = भी,

रक्षन्ति = रक्षा करते हैं। तु = किन्तु, देवाः = देवता, आत्मनम् = अपनी, अपि = भी, न रक्षन्ति = रक्षा नहीं कर सकते हैं। एवम् = इस लिये, हि = निश्चय से, राजा = राजा, एव = ही, परदेवता = उत्तमदेव, अस्ति = है ॥४८॥

भावार्थ.—धर्मदत्त समझता है कि–इस लोक में मूर्ति स्वरूप देवता तो अपने आपकी भी रक्षा नहीं कर सकते हैं, अज्ञानी पशु आदिक द्वारा उनका तिरस्कार प्रत्यक्ष ही देखा जाता है; किन्तु राजा अपनी, प्रजा और देवताओं की भो रक्षा करते हैं। इनसे राजा देवों से भी बढ़कर होते हैं। अतः ऐसे राजा के साथ तेरी कृतघ्नता प्रगट करना महान अन्याय होगा ॥ ४८ ॥

किंचात्र दैवत हन्ति, दैवतद्रोहिणं जनम्।
राजा राजद्रुहां वंश, वंश्यानन्यच्च तत्क्षणे ॥४९॥

अन्वयार्थौ—किञ्च = इसके अतिरिक्त, अत्र = इस लोक में, दैवत = देवता लोग, दैवत द्रोहिणम् = देवताओ (अपने) से द्रोह करने वाले, जनम् = प्राणी को, एव = ही, हान्ति = दुख देता है। किन्तु, राजा = राजा, राजद्रुहाम् = राजा (अपने) के साथ द्रोह करने वालों के, वंश = वश को, वंश्यान् = वश के मनुष्यो को, च = और, अन्यत् = अन्य धन दौलत आदि को, तत्क्षणे = उसी समय, हन्ति = नष्ट कर देता है ॥ ४९ ॥

भावार्थ—धर्मदत्त समझता है कि इस लोक में जो मनुष्य जिस देवता का अपमान करता है, वह देवता केवल उसी मनुष्य को दुःख दे सकता है। किन्तु जो मनुष्य राजा का तिरस्कार करता है, वह राजा उस मनुष्य को तथा उसके कुल वालो को और धन दौलत आदि

को उसी समय नष्ट भ्रष्ट कर देता है। इसलिये हे काष्ठांगार! तू भी राजा के साथ अन्याय मत कर अन्यथा तेरा, तेरे कुटुम्ब का और तेरी धन दौलत का भी क्षणमात्र में पता न चलेगा॥ ४९ ॥

अर्थिनां जीवनोपाय–मपायं चाभिभाविनाम् ।
कुर्वन्तः खलु राजानः, सेव्या हव्यवहा यथा॥५०॥

अन्वयार्थौ—अर्थिनाम्=अर्थीजनों के, जीवनोपायम्=जीवन के उपाय को, च=और, अभिभाविनाम्=तिरस्कार करने वालो के, अपायम्=नाश को, कुर्वन्तः=करने वाले, राजानः=राजा लोग, खलु=निश्चय से, हव्यवहा यथा=अग्नियो के समान, सेव्याः=सेवन करने योग्य हैं॥ ५० ॥

भावार्थ:—धर्मदत्त मन्त्री काष्ठागार से कहता है कि राजा लोग अपने इच्छित कार्य के लिये प्रार्थना करने वालो की तो इच्छा को पूर्ण कर देते हैं और अपमानादि करने वालो का नाश तक कर देते हैं। इसलिये मनुष्य जिस प्रकार अग्नि को डर कर सेवन करता है; जरा ही असावधानी हुई तो अंगोपांग जल जाता है, उसी प्रकार राजा से डर कर चलने में ही मनुष्य का भला हो सकता है। अन्यथा नहीं। इसलिये यदि तू भी अपनी कुशल चाहता है तो राजा से विपरीत न चल॥ ५० ॥

इति धर्म्यं वचोऽप्यासीन्मर्मभित्तीव्रकर्मणः ।
पित्तज्वरवतः क्षीरं, तिक्तमेव हि भासते ॥५१॥

अन्वयार्थौ—इति=पूर्वोक्त, धर्म्यम्=हितकारक, वचः=वचन, अपि=भी, तीव्रकर्मणः=अति अशुभ कर्मोदय वाले, तस्य=उस काष्ठांगार के, मर्मभित्=हृदयविदारक, आसीत्=

हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, पित्तज्वरवत.=पित्तज्वर युक्त जीव के. क्षीरम्=दूध, तिक्तम्=कडुवा, एव=ही, भासते=मालूम होता है॥ ५१॥

भावार्थ.—जैसे मीठा भी दूध पित्त ज्वर वाले को कड़ुवा ही लगता है, उसी प्रकार धर्मदत्त मन्त्री की उपयुक्त पूर्वोक्त शिक्षा भी पापी काष्ठागार को हित का प्रतीत नहीं हुई॥५१॥

स कार्तघ्न्यादिदोषं च, गुरुद्रोहं च किं परैः।
परिवादं च नाद्राक्षीत्, दोष नार्थी हि पश्यति॥५२॥

अन्वयार्थौ—स.=वह काष्ठांगार, कार्तघ्न्यादिदोषम्=कृतघ्नता आदिक दोषों को, च=और, गुरुद्रोहम्=बड़े जनके साथ द्रोह को, न=नहीं, अद्राक्षीत्=विचारता हुआ। परैः किम्=औरों से तो क्या, परिवादम्=निन्दा को, अपि=भी, न अद्राक्षीत्=नहीं विचारता हुआ। नीति.—हि=क्योंकि, अर्थी=स्वार्थी, दोषम्=दोषों को, न=नहीं, पश्यति=विचारता है॥ ५२॥

भावार्थ.—जो मनुष्य अपने स्वार्थ साधन की धुन में मस्त हो जाता है, वह दोषों की ओर नजर नहीं देता, अतएव काष्ठांगार के भी राजा को मार स्वतंत्र बनने की इच्छा का भूत सवार था, जिसके हेतु उसने भी 'मैं लोक में कृतघ्न तथा बड़े और हितैषी जनो के साथ द्रोहकारी कहलाऊंगा और लोक में मेरी बदनामी भी होजावेगी' इत्यादि दोषों की जरा भी पर्वाह न की॥ ५२॥

मथनो नाम तत्स्यालः, तद्वाचं बह्वमन्यत।
तद्धि पाणौ कृतं दात्रं, परिपान्थिविधायिनः॥५३॥

अन्वयार्थौ—मथनः नाम=मथन नामक, तत्स्याल=उस काष्ठांगार का साला, तद्वाचम्=उस काष्ठांगार के वचन को, बहु=बहुत, अमन्यत=आदर देता हुआ, और, तत्=वह आदर देना, हि=निश्चय से, परिपन्थिविधायिनः=खोटा कार्य करने वाले, तस्य=उस काष्ठांगार के, पाणौ=हाथ मे, कृतम्=दिये हुये, दात्रम्=हँसिया (हथयार) के समान, जातम्=हुआ ॥ ५३ ॥

भावार्थ:—जैसे कोई किसी के मारण रूप अकार्य के करने में स्वयं उद्यत हो और उस समय यदि उसके हाथ में कोई हथियार दे दिया जावे तो उसका हौसला और भी बढ़ जाता है । उसी प्रकार राज-द्रोह रूप कुत्सित कार्य में स्वयं उद्यत काष्ठांगार का दुःसाहस मथन नामक साले की सम्मति पाकर और भी बढ़ गया ॥ ५३ ॥

प्राहैषीच्च बलं हन्त, राजानं हन्तुं पापधीः ।
पयो ह्यास्यगतं शक्यं, पाननिष्ठीवनद्वये ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थौ—हन्त=बड़े खेद की बात है कि, पापधीः=पापी, काष्ठांगार=काष्ठांगार, राजानम्=राजा को, हन्तुम्=मारने को, बलम्=सेना को, च=भी, प्राहैषीत्=भेजता हुआ, नीतिः-हि=क्योंकि, आस्यगतम्=मुख में रखा हुआ, पयः=दूध या जल, पाननिष्ठीवनद्वये=पीने या थूकनेमें से किसी एक मे, शक्यम्=समर्थ होता है ॥ ५४ ॥

भावार्थ:—जैसे मुख में लिये हुये दूध या पानी की-भीतर पी लेने या बाहर उगल देने के सिवाय मुखमें ही रखे रहनाआदि कोई तीसरी गति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार काष्ठांगार के असद्विचार की भी

छोड देने या तदर्थ कोशिश करने के सिवाय कोई तीसरी गति नहीं हो सकती थी, अतएव उसने अपना विचार तो न छोड़ा। किन्तु राजा को मारने के लिये सेना ही भेज दी ॥ ५४ ॥

दौवारिकमुखादेत,-दुपलभ्य रुषा नृपः ।
उदतिष्ठत संग्रामे, न हि तिष्ठति राजसम् ॥५५॥

अन्वयार्थौ--नृपः=सत्यंधर राजा, दौवारिकमुखात्= द्वारपाल के मुख से, एतत्=इस सेना के आने के समाचार को, उपलभ्य=जान कर, रुषा=क्रोध से, संग्रामे=युद्ध के लिये, उदष्ठित=उठ खड़ा हुआ। नीति.-हि=क्योंकि, राजसम्= तेजस्विता, न तिष्ठति=छिपी नहीं रह सकती है ॥ ५५ ॥

भावार्थ --जब द्वारपाल ने राजा को काष्ठागार की सेना के आने का समाचार सुनाया तब राजा भी क्रोधित होकर युद्ध के लिये चल पड़ा। ठीक ही है कि भला ऐसी अवस्था में राजाओं का राजसी स्वभाव कैसे शान्त रह सकता है? इस लिये क्षत्रिय सत्यन्धर ने भी अपमान और नीचता को न सह, सावधान हो युद्धांगण की ओर अपना पग बढाया ॥ ५५ ॥

तावतार्धासनाद्भ्रष्टां, नष्टासु गर्भिणीं प्रियाम् ।
दृष्ट्वा पुन र्न्यवर्तिष्ट, स्त्रीष्ववज्ञा हि दुःसहा ॥५६॥

अन्वयार्थौ--तावता=इतने में ही, सः=वह सत्यंधर राजा, गर्भिणीम्=गर्भवती, प्रियाम्=रानी विजया को, अर्धासनात्=आधे आसन से, भ्रष्टाम्=गिरी हुई, और, नष्टासुम्= मूर्छित, दृष्ट्वा=देख कर, पुनः=पीछे, न्यवर्तिष्ट=लौट आया। नीति --हि=क्योंकि, स्त्रीषु=स्त्रियों के, विषय मे, कृता= किया गया, अवज्ञा=अपमान, दुःसहा=असह्य होता है ॥५६॥

भावार्थः—कोई भी विचारशील मनुष्य स्त्रियों के अपमान को सहन नहीं कर सकता है। इसी लिये सत्यन्धर राजा भी विजया को मूर्छित छोड़ जाना उसका अपमान समझ वापिस लौट आया ॥५६॥

अबोधयच्च तां पत्नीं, लब्धबोधो महीपतिः।
तत्वज्ञानं हि जागर्ति, विदुषामार्तिसम्भवे ॥५७॥

अन्वयार्थौ—च = और, लब्धबोध = तत्त्वज्ञ, महीपति = राजा, ताम् = उस विजया को, अबोधयत् = समझता हुआ। नीति.—हि = क्योंकि, विदुषाम् = विद्वानों के, आर्तिसम्भवे = पीड़ा के होने पर, अपि = भी, तत्वज्ञानम् = कर्तव्य का विवेक, जागर्ति एव = स्थिर ही रहता है ॥५७॥

भावार्थः—धीर वीर पुरुष दुःसह आपत्ति के आजाने पर भी 'विपदि धैर्यम्' इत्यादि नीति के अनुसार अधीर नहीं होकर कर्त्तव्यारूढ ही रहते हैं। अतएव विवेकी सत्यधरने भी अपनी आपत्ति की जरा भी पर्वाह न कर रानी को निम्न प्रकार समझाने लगा ॥५७॥

शोकेनालमपुण्यानां, पापं किं न फलप्रदम्।
दीपनाशे तमोराशिः, किमाह्वानमपेक्षते ॥५८॥

अन्वयार्थौ—शोकेन = शोक से, अलम् = बस, यतः = क्योंकि, अपुण्यानाम् = पुण्य हीन, जनानाम् = मनुष्यों के, पापम् = पाप, फलप्रदम् = फल को देने वाला, न भवति किम् = नहीं होता है क्या? अपि तु स्यादेव = किन्तु होता होता ही है। नीतिः—यथा = जैसे, दीपनाशे = दीपक के बुझ जाने पर, तमोराशि. = अन्धकार का समूह, आह्वानम् = बुलाने को, अपेक्षते किम् = चाहता है क्या? अपि तु न = किन्तु नहीं ॥५८॥

भावार्थ.—सत्यंधर राजा विजया रानी को समझाता है कि, जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने पर अँधेरा अपने आप ही आजाता है उसे बुलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी प्रकार पुण्य के नष्ट हो जाने पर दुःख को बुलाने की भी आवश्यकता नहीं होती। तात्पर्य यह है कि अपने भी पाप का उदय आया है, इससे दुःख और आपत्ति का आना अनिवार्य है, इससे तुम्हें शोक न करना चाहिये ॥ ४८ ॥

यौवनं च शरीरं च, सपच्च व्येति नाद्‌भुतम् ।
जलबुद्‌बुदनित्यत्वे, चित्रीया न हि तल्लये ॥५९॥

अन्वयार्थौ—यौवनम् = जवानी, शरीरम् = शरीर, च = और, सम्पत् = धन दौलत, व्येति = नष्ट होती है। अत्र = इसमें. आश्चर्यम् = आश्चर्य, न = नहीं, अस्ति = है। यथा = जैसे, जलबुद्‌बुदनित्यत्वे = पानी के बबूले के बहुत देर तक ठहरने पर, चित्रीया = आश्चर्य, भवति = होता है, किन्तु, तल्लये = उसके उत्पन्न होते ही नष्ट होने पर, चित्रीया न भवति = आश्चर्य नहीं होता है ॥५६॥

भावार्थ.—सत्यधर अपनी रानी को समझाता है कि, जिस प्रकार जल का बबूला देर तक ज्यों का त्यों ठहरे तब तो आश्चर्य होता है, किन्तु यदि उठते ही नष्ट हो जावे तो कोई आश्चर्य नहीं होता। उसी प्रकार जवानी, शरीर और धन दौलत भी ज्यों के त्यों स्थिर रहें तब तो आश्चर्य हो किन्तु इनके परिवर्तन या नाश होने पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। इससे यदि मेरे नश्वर स्वभाव धन दौलत और शरीर के भी नाश हो जाने की सम्भावना है तो खेद करना व्यर्थ ही है ॥५६॥

संयुक्तानां वियोगश्च, भविता हि नियोगतः।

किमन्यैरङ्गतोऽप्यंगी, निःसंगो हि निवर्तते ॥६०॥

अन्वयार्थौ—च = और, सयुक्तानाम् = मिले हुये, पदार्थानाम् = पदार्थों का, वियोगः = विछोह, नियोगतः = नियम से, भविता = होता है। अन्यैःकिम् = और से तो क्या, किन्तु, अङ्गतः = शरीर से, अङ्गी = आत्मा, अपि = भी, निःसङ्गः = सम्बन्ध रहित, सन् = होता हुआ, निवर्तते = निकल जाता है॥६०

भावार्थः—सत्यन्धर समझाता है कि—जो दो पदार्थ कारणवश परस्पर में मिले हुये हैं, उनका एक न एक दिन जुदा होना अनिवार्य है। अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या किन्तु शरीर और आत्मा जो परस्पर में दूध और पानी के समान एकमेक हो रहे हैं, वे भी मृत्यु समय अलग होते हुये दिखलाई देते हैं। फिर जरा विचारने की बात है कि हम तुम तो प्रत्यक्ष ही जुदे हैं। ऐसी हालत में यदि हमारा तुम्हारा वियोग हो जावे तो क्या आश्चर्य है॥ ६० ॥

अनादौ सति संसारे, केन कस्य न वन्धुता।

सर्वथा शत्रुभावश्च, सर्वमेतद्धि कल्पना ॥६१॥

अन्वयार्थौ—संसारे = ससार के, अनादौ = आदि रहित, सति = होने पर, केन सह = किसी के साथ, कस्य = किसीकी, वन्धुता = मित्रता, च = और, शत्रुभावः = शत्रुता, सर्वथा = विलकुल भी, न = नहीं, अस्ति = है। हि = निश्चय से, एतत् = यह मित्रता और शत्रुता का विचार, कल्पना = कल्पना मात्र, एव = ही, अस्ति = है ॥६१॥

भावार्थ:—इस संसार का कोई शुरूआत नहीं है और इसमें न तो किसी को किसी के साथ मित्रता है और न शत्रुता ही है। किन्तु हम अशुभ कर्म के उदय से होने वाली असाता के निमित्त को शत्रु और शुभ कर्म के उदय होने वाली साता के निमित्त को मित्र मान लेते हैं। किन्तु यह हमारी भूल और कल्पना मात्र ही है। इसलिये मेरे ऊपर भी अशुभ कर्मोदय से ही ये दुःख के बादल मडरा रहे हैं, इस प्रकार राजा ने विजया को समझाया ॥ ६१ ॥

इति धर्म्यं वचस्तस्या, लेभे नैव पदं हृदि ।

दग्धभूम्युप्तबीजस्य, न ह्यंकुरसमर्थता ॥६२॥

अन्वयार्थौ--इति = यह पूर्वोक्त, धर्म्यम् = उचित, वचः = उपदेश, तस्या = उस विजया रानी के, हृदि = हृदय में, पदम् = स्थान को, एव = ही, न = नहीं। लेभे = पा सका। नीति —हि = क्योंकि, दग्धभूम्युप्तबीजस्य = जली हुई पृथ्वी मे बोये हुये बीज के, अंकुरसमर्थता = अंकुर को पैदा करने का सामर्थ्य, न अवलोक्यते = नहीं देखा जाता है ॥६२॥

भावार्थ —जिस प्रकार जली हुई पृथ्वी में बोया हुआ बीज व्यर्थ ही जाता है—उससे अंकुरोत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार सत्यंधर राजा ने रानी को बहुत हितकर उपदेश दिया, किन्तु उनके क्षुब्ध हृदय में उसे स्थान तक नहीं मिला, फिर मानने की तो बात ही क्या ॥६२॥

अयं त्वापन्नसत्त्वां ता-मारोप्य शिखियन्त्रकम् ।

स्वयं तद्भ्रामयामास, हन्त क्रूरतमो विधिः ॥६३॥

अन्वयार्थौ—तु = तदनन्तर, अयम् = यह सत्यंधर राजा आपन्नसत्वाम् = गर्भवती, ताम् = उस विजया रानी को, शिखियन्त्रकम् = हवाई जहाज मे, आरोप्य = बिठा कर, तत् = उस हवाई जहाज को, स्वयम् = अपने आप, भ्रामयामास = घुमाता हुआ। नीतिः—हन्त = खेद है यत् = कि, विधिः = भाग्य, क्रूरतमः = बहुत कठोर, भवति = होता है ॥६३॥

भावार्थ—पश्चात् सत्यंधर राजाने विजया को हवाई जहाज में बिठा कर आकाश में उड़ा दिया। नीतिकार कहते हैं कि, भाग्य अटल होता है। अतएव जब इन राजा और रानी के अशुभ कर्म का उदय आया तो इनको भी वियोग जनित दुःख का अनुभव करना पड़ा ॥ ६३ ॥

वियतास्मिन्गते योद्धुं, स मोहादुपचक्रमे ।

न ह्यङ्गुलिरसाहाय्या, स्वय शब्दायते तराम् ॥६४॥

अन्वयार्थौ—सः = वह सत्यंधर राजा, वियता = आकाश मार्ग से, अस्मिन् = इस हवाई जहाज के, गते सति = चले जाने पर, मोहात् = मोह से, योद्धुम् = युद्ध करने को, उपचक्रमे = प्रारम्भ करता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, असाहाय्या = सहायता रहित, अङ्गुलिः = अंगुलि, स्वयं = अपने आप, न शब्दायते तराम् = शब्द नहीं कर सकती है ॥६४॥

भावार्थ—हवाई जहाज के आकाश में चले जाने पर सत्यंधर राजा राज्य की चाह, युद्धकौशल और असमता के विचार से मोहित हो काष्ठांगार की सेना के साथ युद्ध करने को उद्यत हुआ; क्योंकि एक हाथ से ताली या एक अंगुली से चुटकी नहीं बजती है, अतएव भले ही सेना आ डटी थी, पर सत्यंधर शान्ति रखता तो युद्ध न होता, किन्तु वह भी शान्त न रहा, इसलिये दोनों ओर घोर युद्ध होने लगा ॥ ६४ ॥

अथ युद्‌ध्वा चिरं योद्धा, मुधा प्राणिवधेन किम् ।
इत्यूहेन विरक्तोऽभूद्, गत्यधीन हि मानसम् ॥६५॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके अनन्तर, योद्धा = शूरवीर सत्यंधर राजा चिरम् = बहुत काल तक, युद्‌ध्वा = युद्ध करके, मुधा = व्यर्थ, प्राणिवधेन = प्राणियो की हिंसा से, किम् = क्या लाभ, अस्ति = है, इति = इस प्रकार, ऊहेन = विचार स, विरक्तः = युद्ध से विरक्त, अभूत् = होगया । नीति.—हि = क्योंकि, मानसम् = मन का विचार, गत्यधीनम् = आगे होने वाली शुभाशुभ अवस्था के अनुसार, भवति = होता है ॥६५॥

भावार्थः—जाव की भविष्य में जैसी गति होनी होती है, उनके भाव भी प्राय उसी के अनुकूल हुआ करते हैं । तदनुसार सत्यन्धर की भी भविष्य में शुभ गति होना थी, जिससे वह भी बहुत समय तक युद्ध कर अन्त में युद्धजन्य हिंसा से विरक्त होगया ॥ ६५ ॥

विषयासङ्गदोषोऽयं, त्वयैव विपयीकृतः ।
साम्प्रतं वा विषप्रख्ये, मुञ्चात्मान्विपये स्पृहाम् ॥६६॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मा, अयम् = यह, विपयासंगदोप = पचेन्द्रिय सम्बन्धी विपयो मे आसक्ति रखने से हानि, त्वय. = तूने. एव = ही, विपयीकृतः = प्रत्यक्ष करली है । वा = अतएव, साम्प्रतम् = इस समय, विषप्रख्ये = विप के समान, विपये = पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विपयो में, स्पृहाम् = इच्छा को, मुञ्च = छोड ॥६६॥

भावार्थः—सत्यंधर राजा विरक्त हो विचारते है कि हे आत्मन् पचेन्द्रिय सम्बन्धी विपयों में आसक्ति रखने से जो जो हानियाँ होती

हैं उनका तू प्रत्यक्ष अनुभव ही कर चुका है। जिस प्रकार विपभक्षण प्राणान्त कर देता है, उसी प्रकार विषयों में तल्लीन होने से भी प्राणों से भी हाथ धोना पडता है। इसके लिये हिरण, मछली आदि की आसक्ति ज्वलंत उदाहरण हैं। अतएव तू अपना भला चाहता है, तो अब भी सांसारिक विषयों से नाता तोड़ ॥ ६६ ॥

भुक्तपूर्वमिदं सर्वं, त्वयात्मन्भुज्यते ततः।
उच्छिष्टं त्यज्यतां राज्य—मनन्ता ह्यसुभृद्भवाः॥६७॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मन्, त्वया=तेरे द्वारा, इदम्=यह, सर्वम्=सब वस्तु, भक्तपूर्वम्=पूर्व में भोगी हुई, एव=ही, भुज्यते=भोगी जाती है। तत=इस लिये, उच्छिष्टं=झूँठा, राज्यम=राज्य, त्यज्यताम्=छोडा जाना चाहिये, हि=क्योंकि, असुभृद्भवाः=जीवों की पर्यायें, अनन्ता.=अनन्त, भवन्ति=होती हैं ॥६७॥

भावार्थः—हे आत्मन् तू अतीत कालीन अनंत पर्यायों में जिन जिन वस्तुओं का अनेक वार भोगकर चुका है, उन्हीं भुक्त राज्यादिकों का फिर फिर से भोग कर रहा है। और एक वार भोगी हुई वस्तु जूठी समझी जाती है, इसलिये जूठन के समान राज्य से अब भी मुख मोड़ कर अपने हित में लग ॥ ६७ ॥

अवश्यं यदि नश्यन्ति, स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यात्, मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥६८॥

अन्वयार्थौ—विपयाः = पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विपय, चिरम्=बहुत काल तक, स्थित्वा=रह कर, अपि=भी, यदि=

अगर, अवश्यम्=अवश्य, नश्यन्ति=नष्ट होजाते हैं, तर्हि=तो, स्वयम्=अपने द्वारा ही, त्याज्या.=त्याग देना चाहिये। हि=क्योंकि, तथा=ऐसा करने पर, मुक्ति=कर्मबंध का अभाव, स्यात्=होता है। च=और, अन्यथा=इसके विपरीत करने पर, संसृतिः=ससार, एव=ही, स्यात्=होता है ॥६८॥

भावार्थ—जब कि पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय प्राणी को क्षणिक सुख देकर एक न एक समय अवश्य नष्ट होजाते हैं, अतएव मनुष्य विचार पूर्वक उनका परित्याग कर देता है, तो पाप बन्ध से रहित हो जाता है। यदि इससे विपरीत विषय ही जीव का सम्बध छोड कर नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य उन्हे नहीं त्यागता है तो उसके संसार परिभ्रमण का कारण पाप का बध होता ही रहता है ॥ ६८ ॥

त्यज्यते राज्यमानेन, राज्येनान्येन वा जनः।
भज्यते त्यज्यमानेन, तत्त्यागोऽस्तु विवेकिनाम् ॥६९॥

अन्वयार्थौ—रज्यमानेन = अनुराग के विषयभूत, राज्येन=राज्य के द्वारा, वा=और, अन्येन=अन्य दूसरी वस्तुओ के द्वारा, जन=प्राणी, त्यज्यते=छोडा जाता है। और, त्यज्यमानेन=त्याग की विषयभूत वस्तुओ से, भज्यते=सेवन किया जाता है। तत्=इस लिये, विवेकिनाम्=विचारवान् पुरुषों के, तत्याग=उन दोनों प्रकार की वस्तुओ का त्याग, अस्तु=हो ॥६९॥

भावार्थः—प्राणी जिस वस्तु को भोगने की इच्छा करता है, वह वस्तु या तो उसे प्राप्त ही नहीं होती है या उससे सम्बन्ध छोड़ अलग हो जाती है, और जिसे वह नहीं चाहता, वह अनिच्छित वस्तु उसे अपने

आप प्राप्त हो जाती है और उसका पिण्ड भी नहीं छोडती इसलिये विवेकियों को सांसारिक इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार की वस्तुओं का त्याग करदेना चाहिये ॥ ६९ ॥

इति भावनया राजा, वैराग्यं परमीयिवान् ।
त्यक्त्वा संग निजाङ्गं च, दिव्यां सम्पदमासदत् ॥७०॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त, भावनया = भावना से, परम् = अत्यन्त, वैराग्यम् = विरक्तता को, ईयिवान् = प्राप्त होते हुये, राजा = सत्यंधर महाराज, सङ्गं = परिग्रह को, च = और, निजाङ्गम् = अपने देह को, त्यक्त्वा = छोड़ कर, दिव्याम् = स्वर्गसम्बन्धी, सम्पदम् = ऐश्वर्य को, आसदत् = प्राप्त होते हुये ॥ ७० ॥

भावार्थ.—महाराज सत्यंधर ने युद्ध से विरक्त होकर संसार, शरीर और भोगों की असारता का पूर्वोक्त विचार करते करते शरीर और परिग्रह से सदा को नाता तोड स्वर्ग की विभूति को प्राप्त किया। अर्थात् वे मर कर देव हुये ॥ ७० ॥

पौरा जानपदाः सर्वे, निर्वेदं प्रतिपेदिरे ।
पीडा ह्यभिनवा नृणां, प्रायो वैराग्यकारणम् ॥७१॥

अन्वयार्थौ—तदा = उस समय, सर्वे = सब, पौराः = पुरवासी, च = और, जानपदाः = नगर निवासी, निर्वेदम् = वैराग्य को, प्रतिपेदिरे = प्राप्त हुये। हि = क्योंकि, अभिनवा = नूतन, पीड़ा = दुःख, नृणाम् = मनुष्यों के, प्राय = अधिकतर, वैराग्यकारणम् = वैराग्य का कारण, भवति = होती है ॥७१॥

भावार्थ —जब मनुष्य किसी नूतन पीड़ा का अनुभव या श्रवण करता है, तब वह संसार की असारता का विचार कर विरक्त से होने लगता है। तदनुसार सत्यंधर के स्वर्गवास रूप नवीन दुःख से समस्त नगर और देश वासी विरक्तता का अनुभव करने लगे ॥ ७१ ॥

अधिस्त्रि रागः क्रूरोऽयं, राज्यं प्राज्यमसूनपि ।
तद्वञ्चिता हि मुञ्चन्ति, किन्न मुंचन्ति रागिणः ॥७२॥

अन्वयार्थौ—अधिस्त्रि=स्त्रियों के विषय में, अयं= यह अनुभूत, रागः=अति आसक्ति, क्रूरः=भयंकर, अस्ति= होती है। हि=क्योंकि, तद्वञ्चिताः=उस स्त्री राग से ठगे हुये जन, प्राज्यम्=विशाल, राज्यम्=राज्य को, च=और, असून्= प्राणों को, अपि=भी, मुंचन्ति=छोड़ देते हैं। नीतिः— रागिणः=विषयासक्त पुरुष, किम्=क्या क्या, न मुञ्चन्ति= नहीं छोड देते हैं। किन्तु, सर्वं मुंचति=किन्तु सभी कुछ छोड़ देते हैं ॥७२॥

भावार्थ —विरक्त जनता विचार करती है कि, स्त्रियों में अधिक आसक्ति करना बहुत भयंकर है। स्त्री भोग में लम्पटी जन राज्यपाट, धनदौलत और प्राणों को भी आहुति दे बैठते हैं। ठीक ही कहा है कि विषयी मनुष्य सभी कार्यों से हाथ धो बैठते हैं ॥ ७२ ॥

नारीजघनरन्ध्रस्थ–विण्मूत्रमयचर्मणा ।
वाराह इव विड्भक्षी, हन्त मूढः सुखायते ॥७३॥

अन्वयार्थौ—हन्त=खेद की बात है, यत्=कि, मूढः= मूर्ख जन, नारीजघनरन्धस्थविण्मूत्रमयचर्मणा=स्त्री की जांघों

में स्थित निन्द्य मल मूत्र आदि से भरे हुये चमड़े से, विड्भक्षी= विष्टा के खाने वाले, वराह. इव=शूकर के समान, सुखायते= सुख मानता हूँ ॥७३॥

भावार्थः—विरक्त जनता विचार करती है कि जिस प्रकार विष्टा (टट्टी) खाने वाला शूकर अस्पृश्य विष्टा को खाता हुआ भी अपने को सुखी और भला मानता है, उसी प्रकार स्त्री के मल मूत्रादि अपवित्र वस्तु से भरे हुये अस्पृश्य गुप्तांग को भोग कर मूर्ख मनुष्य अपने को सुखी और भला मानता हुआ नहीं लजाता है, यह दुःख की बात है ॥ ७३ ॥

किं कीदृशं कियत्क्वेति, विचारे सति दुःसहम् ।
अविचारितरम्यं हि, रामासम्पर्कजं सुखम् ॥७४॥

अन्वयार्थौ—अविचारितरम्य=विचार किये बिना ही प्रिय, रामासम्पर्कजम्=स्त्री के सेवन से उत्पन्न, सुखम्=सुख, किम्=क्या, कीदृशम्=कैसा, कियत्=कितना, च=और, क्व=कहां, अस्ति=है । इति=इस प्रकार, विचारे सति= विचार करने पर, दुःसहम्=असह्य, भवति=होजाता है ॥७४॥

भावार्थः—जनता विचार करती है कि, स्त्री सेवन करने से जो सुख होता है, उसके विषय में जब तक "यह क्या है, कैसा है, कितना है और कहां है" ऐसा विचार न किया जावे, तभी तक वह सुन्दर मालूम होता है, किन्तु जब उपर्युक्त बातों पर विचार किया जावे तब उसमें जरा भी सार नहीं दिखलाई देता है ॥ ७४ ॥

निवारिताप्यकृत्ये स्या—न्निष्फला दुष्फला च धीः ।
कृत्ये तु नापि यत्नेन, कोऽत्र हेतुर्निरूप्यताम् ॥७५॥

अन्वयार्थौ—निष्फला = फल रहित, च = और, दुष्फला = खोटे फल वाली, धीः = बुद्धि, निवारिता सती = रोकी गई, अपि = भी, अकृत्ये = खोटे कार्य में, स्यात् = प्रवृत्त होजाती है। तु = किन्तु, कृत्ये = अच्छे कार्य में, यत्नेन = कोशिश करने से, अपि = भी, न = नहीं, स्यात् = प्रवृत्त होती है। अत्र = इसमें, कः = कौन, हेतु = कारण, अस्ति = है, इति यह, निरूप्यताम् = विचारना चाहिये ॥७५॥

भावार्थः—जनता विचार करती है कि, बुद्धि खोटे कार्य में तो अपने आप ही प्रवृत्त हो जाती है, किन्तु अच्छे कार्य में कोशिश करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती है; इस बात में क्या कारण है, इसका विचार करना चाहिये ॥ ७५ ॥

निश्चित्याप्यघहेतुत्वं, दुश्चित्तानां निवारणे ।

येनात्मन्निपुणो नासि, तद्धि दुष्कर्मवैभवम् ॥७६॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मन्, त्वम् = तुम, दुश्चित्तानां = रागद्वेष आदिक बुरे विचारों के, अघहेतुत्वम् = पाप का कारण, निश्चित्य = निश्चय करके, अपि = भी, निवारणे = रोकने में, येन = जिस कारण से, निपुण = योग्य, न = नहीं, असि = हो, हि = निश्चय से, तत् = वह, दुष्कर्मवैभम् = पापकर्म का प्रभाव, एव = ही, अस्ति = है ॥७६॥

भावार्थ—हे आत्मन् शुभाशुभ रागद्वेष आदि विभावपरिणति अभिनव द्रव्य कर्म के बंध का कारण है ऐसा जान कर भी तुम उनके रोकने में प्रयत्नशील नहीं होते, इसका कारण पूर्वसञ्चित पाप कर्म का उदय ही समझना चाहिये ॥ ७६ ॥

हेये स्वयं सती बुद्धि, र्यत्नेनाप्यसती शुभे ।
तद्धेतुकर्म तद्वन्त—मात्मानमपि साधयेत् ॥७७॥

अन्वयार्थौ—बुद्धि.=बुद्धि, हेये=खोटे कार्य मे, स्वयम्=अपने आप, सती=प्रवृत्त, च=और शुभे=अच्छे कार्य मे, यत्नेन=कोशिश करने से, अपि=भी, असती =अप्रवृत्त, स्यात्=होती है। च=और, तद्धेतुकर्म=उस का कारण पापकम, आत्मानम्=आत्मा को. अपि=भी, तद्वन्तम्=वैसा ही विपरीतप्रवृत्तिकर्त्ता, साधयेत्=बना देता है ॥७७॥

भावार्थ.—बुद्धि के खोटे कार्य में स्वत प्रवृत्त होने और अच्छे कार्य में कोशिश करने पर भी प्रवृत्त न होने मे कारण भूत पाप कर्म, आत्मा (जीव) को भी खोटे कार्य म प्रवृत्ति करने वाला और करणीय कार्यों में प्रवृत्ति न करने वाला बना देता है ॥ ७७ ॥

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किम्प्राप्यः किंनिमित्तकः ।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चे—दस्थाने हि मति र्भवेत् ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थौ—अहं=मैं, क.= कौन, कीदृग्गुण.=कैसे कैसे गुणो वाला, कृत्य.=कहा से आया, किम्प्राप्य.=किस वस्त का प्रापक, च=और, किंनिमित्तक =किस हेतु, अस्मि=हूँ ? इति=इस प्रकार, ऊह =विचार, चेत्=यदि, प्रत्यहम्=प्रतिदिन, न स्यात्=न हो, तर्हि=तो, मति.=बुद्धि, अस्थाने=अयोग्य कार्य मे, स्यात्=प्रवृत्त होजाती है ॥७८॥

भावार्थः—मैं कौन (परद्रव्यो से भिन्न शुद्ध स्वरूप) हू, मुझ मे कौन कौन गुण (शुद्ध ज्ञान दर्शनादि ही) है, मैं पूर्व किस पर्याय (न जाने नारकादि किस दुःखमय पर्याय) से आया हू, मुझे

इय पर्याय में क्या प्राप्त करना है (रत्नत्रय स्वरूप धर्म, न कि विषय भोग), और मैं किस हेतु पैदा हुआ हूं (परोपकार, धर्म रक्षा और आत्म कल्याण के हेतु) इस प्रकार विचार यदि प्रतिदिन न किया जावे, तो मनुष्य कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो कुकार्य में प्रवृत्त होजाता है ॥७८॥

मुह्यन्ति देहिनो मोहा—न्मोहनीयेन कर्मणा।

निर्मितान्निर्मिताशेष—कर्मणा धर्मवैरिणा ॥७९॥

अन्वयार्थौ—देहिन = जीव, निर्मिताशेषकर्मणा = समस्त कर्मों के उत्पादक कारण, धर्मवैरिणा = धर्म बोधक, मोहनीयेन = मोहनीय, कर्मणा = कर्म से, निर्मितात् = रचे गये, मोहात् = मोह से, मुह्यन्ति = मोहित होते हैं ॥७९॥

भावार्थ —प्रत्येक प्राणी समस्त ज्ञानावरणादि कर्मों के जनक और धर्म (रत्नत्रय) घातक मोहनीय कर्म के उदय से आत्मेतर पर वस्तुओं में मोहित होकर आत्मस्वरूप को भूल सांसारिक दुःखों के चगुल में फस रहे हैं ॥७९॥

किन्नु कर्तुं त्वयारब्धं, किन्नु वा क्रियतेऽधुना।

आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य, हन्त बाह्येन मुह्यसि ॥८०॥

अन्वयार्थौ—हे आत्मन् = हे आत्मा, त्वया = तूने, किं = क्या, कर्तुम् = करने के लिये, आरब्धम् = शुरू किया था। वा = और, अधुना = अब, त्वया = तेरे द्वारा, किम् = क्या, क्रियते = किया जा रहा है। हन्त = खेद है, यत् = कि, आरब्धम् = प्रारम्भ किये हुये कार्य को, उत्सृज्य = छोड़ कर, बाह्येन = पर पदार्थों से, मुह्यति = तुम मोहित हो रहे हो ॥८०॥

भावार्थ—हे आत्मन् तूने कौन कार्य करना तो शुरू किया था और इस समय कौन कार्य कर रहा है। बड़े खेद की बात है कि तुम शुरू किये हुये आत्महित का परित्याग कर सम्प्रति बाह्य पदार्थों में मुग्ध हो रहे हो ॥८०॥

इदमिष्टमनिष्टं वे–त्यात्मन्संकल्पयन्मुधा ।
किन्तु मोमुह्यसे बाह्ये, स्वस्वान्तं स्ववशीकुरु ॥८१॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मा !, इदम् = यह, अमुक वस्तु इष्टम् = इष्ट, वा = और, इदम् = यह वस्तु, अनिष्टम् = अनिष्ट, अस्ति = है, इति = इस प्रकार, संकल्पयन् = कल्पना करता हुआ, त्वम् = तूं, बाह्ये = पर वस्तुओं में, मुधा = व्यर्थ, किन्तु = क्यों, मोमुह्यसे = मोहित होता है। किन्तु, स्वस्वान्तम् = अपन मन को, स्ववशीकुरु = अपने वश में कर ॥८१॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! इस असार संसार में यद्यपि कोई भी वस्तु अच्छी या बुरी नहीं है। सब अपने २ स्वाभाव से परिणाम रहा हैं। किन्तु तेरा अतिचपल मन ही स्वेष्ट वस्तु को अच्छी और स्वानिष्ट वस्तु को बुरी मान उनमें राग द्वेष करता है। अतएव तेरा कर्त्तव्य है कि तूं अपने चंचल मन को ही स्वाधीन कर जिससे वह स्वच्छन्दता से बाह्यवस्तुओं में ऐसी कल्पना ही न कर सके और उसके अपराध से तूं भी रागी द्वेषी न कहलावे ॥८१॥

लोकद्वयाहितोत्पादि, हन्त स्वान्तमशान्तिमत् ।
न द्वेक्षि द्वेक्षि ते मौढ्या–दन्यं संकल्प्य विद्विषम् ॥८२॥

अन्वयार्थौ—आत्मन् = हे आत्मा !, हन्त = खेद की बात यत् = कि, त्वम् = तू, लोकद्वयाहितोत्पादि = उभयलोक के

अशान्तिकृत्=अशान्ति स्वरूप, ते=अपने, स्वान्तम्=मन से, न द्वेक्षि=द्वेष नहीं करता है। किन्तु, मौढ्यात्=मूर्खता से, अन्यम्=दूसरे पदार्थ को, विद्विषम्=शत्रु (दुःखदायक), संकल्प्य=मान कर, तम्=उससे, द्वेक्षि=द्वेष करता है ॥८२॥

भावार्थः—हे आत्मन्! हेय कार्यों में प्रवृत्ति कराकर अपयश और पाप बंध आदि द्वारा ऐहिक और पारलौकिक हित के नाशक एवं इष्टानिष्ट में प्रवृत्ति निवृत्ति आदि द्वारा अशान्तिजनक वास्तविक शत्रुभूत अपने अपने चंचल चित्त से तो तू द्वेष नहीं करता है। किन्तु मूर्खता से पर पदार्थों को शत्रु मान कर उनसे द्वेष करता है, यह तेरा अक्षम्य अविवेक है ॥ ८२ ॥

अन्यदीयमिवात्मीय—मपि दोषं प्रपश्यता।
कः समः खलु मुक्तोऽयं, युक्तः कायेन चेदपि ॥८३॥

अन्वयार्थौ—अन्यदीयम्=परसम्बन्धी, दोषम् इव=दोष के समान, आत्मीयम्=स्वसम्बन्धी, दोषम्=दोष को, अपि=भी, प्रपश्यता समः=देखने वाले के समान, कः=कौन, अस्ति=है, यतः=क्योंकि, अयम्=यह, चेदपि=यद्यपि कायेन=शरीर से, युक्तः=सहित, अस्ति=है, तथापि=तो भी, मुक्तः=मुक्त के समान, अस्ति=है ॥ ८३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य दूसरे के ऐबों को तलाशता है, उस दुष्ट के पापबन्ध के सिवाय कोई अन्य वस्तु हाथ नहीं आती है, किन्तु जो अपने ही ऐबों (दोषों) को तलाशता है, वह उन्हें जान, उनको दूर कर कालान्तर में निर्दोष हो जाता है, अतएव आत्मदोषदर्शी यद्यपि शरीर सहित है तो भी मुक्त (अकर्मा, दोष रहित) जीव के समान

है। अतएव अन्य के दोषों को न देख केवल आत्मदोष की ही तलाश करना समझदार का कर्त्तव्य है ॥ ८३ ॥

इत्याद्यूहपरे लोके, केकी तु वियता गतः ।
पातयामास राज्ञीं तां, तत्पुरप्रेतवेश्मनि ॥८४॥

अन्वयार्थौ—लोके = जनसमुदाय के, इत्याद्यूहपरे सति = पूर्वोक्त विचार में मग्न रहने पर, एव = ही, वियता = आकाश मार्ग से, गतः = गया हुआ, केकी = हवाई जहाज, ताम् = उस, राज्ञीम् = विजया रानी को, तत्पुरप्रेतवेश्मनि = उसी राजपुरी की श्मशान भूमि में, पातयामास = गिराता हुआ ॥८४॥

भावार्थ:—सत्यन्धर राजा के वियोग से दुखित जनता पूर्वोक्त रीत्या संसार की असारता को विचार ही रही थी कि—इतने में हा जो हवाई जहाज सत्यन्धर राजा के द्वारा रानी को बिठाकर पहिले आकाश में उड़ा दिया गया था, उसने रानी को उसी राजपुरी नगरी की श्मशान भूमि में आ पटका ॥ ८४ ॥

जीवानां पापवैचित्रीं, श्रुतवन्तः श्रुतौ पुरा ।
पश्येयुरधुनेतीव, श्रीकल्पाभूदकिञ्चना ॥८५॥

अन्वयार्थौ—जीवानाम् = प्राणियों की, पापवैचित्रीम् = पापो की विचित्रता को, पुरा = पहिले, श्रुतौ = आर्ष कथा ग्रन्थों मे, श्रुतवन्तः = सुनने वाले जन, अधुना = इस समय, पश्येयु = प्रत्यक्ष देखले, इति = इस कारण से, एव = ही, श्रीकल्पा = लक्ष्मीतुल्य, सा = वह विजया रानी, अकिञ्चना = जन और धन शून्य, अभूत् = हो गई ॥ ८५ ॥

भावार्थ.—जो मनुष्य पापों की विचित्रता को पहिले कथाग्रन्थों में ही सुना करते थे, वे मुझे पूर्वाह्न में तो पुण्योदय से ऐश्वर्यशालिनी महारानी और सौभाग्यवती तथा अपराह्न में ही राजशून्य, निर्धन और विधवा हुई देख पापों की विचित्रता को प्रत्यक्ष देख लेवें, इस बात को शब्दोच्चारण बिना प्रगट करती हुई ही मानो वह विजया रानी धन और जन शून्य हो गई ॥ ८५ ॥

क्षणनश्वरमैश्वर्य–मित्यर्थ–सर्वथा जनः ।
निरणैषीदिमा दृष्ट्वा, दृष्टान्ते हि स्फुटायते मतिः॥८६॥

अन्वयार्थौ—जन.=जनसमुदाय, इमाम्=इस विजया रानी को, दृष्ट्वा=देखकर, ऐश्वर्यम्=धन और जन रूप विभूति क्षणनश्वरम=क्षण भर में नष्ट होने वाली, अस्ति=है, इत्यर्थम्=इस बात को, सर्वथा=भली प्रकार, निरणैषत्= निश्चित करता हुआ। नीति–कि=क्योंकि, दृष्टान्ते=दृष्टान्त के मिल जाने पर, मतिः=बुद्धि, स्फुटा=स्पष्ट, भवेत्=हो जाती है ८६ ॥

भावार्थ—दृष्टान्त के मिल जाने पर बात खुलासा हो जाती है। अतएव अग्रिम श्लोकोक्त विजया की विभूति की क्षणक्षीणता रूप दृष्टान्त को देखकर जनता ने भी ऐश्वर्य की क्षणनश्वरता का दृढ निश्चय कर लिया ॥ ८६ ॥

पूर्वाह्णे पूजिता राज्ञी, राज्ञा सैवापराह्णके ।
परेतभूशरण्याभूत्, पापाद्धिभ्यतु पण्डिताः ॥८७॥

अन्वयार्थौ—या=जो, राज्ञी=रानी, पूर्वाह्णे=दिन के पूर्व भाग मे, राज्ञा=राजा के द्वारा, पूजिता=सत्कृत की गई

थी। सा=वह रानी, एव=ही, अपराह्णे=दिन के पिछले भाग में, परेतभूशरण्य.=श्मशान भूमि के शरण, अभूत्=हो गई। अतएव, पण्डिता=समझदार जन, पापात्=पाप से, बिभ्यतु=डरें॥ ८७॥

भावार्थ—जिस रानी ने दिन के पूर्वार्द्ध में अपने पतिदेव सत्यन्धर राजा से सत्कार पाया था, वही रानी पापोदय से दिन के उत्तरार्द्ध भाग में ही धन और जन शून्य एवं विधवा होकर श्मशान के शरण हो गई, अतएव आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है कि वे पापों से डरें, जिससे ऐसी दुखद हालतों का सामना न करना पड़े॥ ८७॥

सा तु मूर्च्छापराधीना, सूतिपीडामजानती।
मासि वैजनने सूनुं, सुषुवे हन्त तद्दिने॥८८॥

अन्वयार्थ—तु=और, मूर्च्छापराधीना=मूर्च्छा के आधीन, अतएव, सूतिपीडाम्=प्रसव के दुःख को, अजानती=नहीं जानती हुई, सा=वह विजया रानी, वैजनने=दशवें, मासि=महिने में, तद्दिने=उस सत्यन्धर राजा के स्वर्गवास के दिन, एव=ही, सूनुम्=सुपुत्र को, सुषुवे=जनती हुई॥ ८८॥

भावार्थ—पश्चात उस विजया ने दशवें प्रसूति मास में सत्यंधर के स्वर्गवास के दिन ही श्मशान भूमि में एक पुत्र प्रसव किया। किन्तु श्मशान के भयंकर दृश्य देख मूर्च्छित होने के कारण उसे प्रसव-कालिक वेदना का लेशमात्र भी अनुभव न हुआ॥ ८८॥

तावता देवता काचिद्, धात्रीवेषेण सन्यधात्।
तत्रैव पुत्रपुण्येन, पुण्ये किं वा दुरासदम्॥ ८९॥

अन्वयार्थौ—तत्रता = इसी समय, काचित् = कोई, देवता = देवी, पुत्रपुण्येन = प्रसूत पुत्र के पुण्योदय से, धात्रीवेषेण = धाय के वेश से, तत्र = वहाँ पर, एव = ही, सन्यधात् = आई॥ नीति -वा = क्योकि, पुण्ये = पुण्योदय के होने पर किम् = कौन वस्तु, दुरासदम् = दुराराध्य, भवति = होती है । किन्तु, किमपि न = कुछ भी नहीं ॥ ८६ ॥

भावार्थ—पुण्योदय के होने पर दुष्कर कार्य भी सुकर होजाते हैं । अतएव पुत्र के उत्पन्न होते ही उसके पुण्योदय से कोई देवी धाय का रूप धारण कर पुत्र रक्षा और विजया की सहायता के हेतु श्मशान में ही विजया के पास आई ॥ ८६ ॥

ता पश्यन्त्या अभूत्तस्या, उद्वेल: शोकसागर: ।
सन्निधौ हि स्वबन्धूनां, दु:खमुन्मस्तकं भवेत् ॥९०॥

अन्वयार्थौ—ताम् = उस धाय को, पश्यन्त्या = देखने वाली, तस्या. = उस विजया रानी का, शोकसागर. = शोक रूपी समुद्र उद्वेल: = सीमातीत, अभूत् = हो गया । नीति.— हि = क्योकि, दु:खम् = दु:ख, स्वबन्धूनाम् = अपने हितैपियों के, सन्निधौ = समीप से, उन्मस्तकम् = वृद्धिङ्गत, भवेत् = हो जाता है ॥ ९० ॥

भावार्थ —शुभचिन्तक जन के समीप आजाने पर दुखी मनुष्य का दु:ख बढ़ ही जाता है । तदनुसार शुभचिन्तक धाय (देवी) के आने पर विजया को पुत्ररक्षा आदि की चिन्ता रूप दु:ख और भी बढ गया ॥ ९० ॥

देवता तु समाश्वास्य, जातमाहात्म्यवर्णनैः ।
ऊर्णादिदर्शनोद्भूतै, र्देवीं तामित्यवोचयत् ॥६१॥

अन्वयार्थौ—तु = पश्चात, देवता = धायस्वरूप देवी; ऊर्णादिदर्शनोद्भूतै = भौंरी आदि के देखने से ज्ञात, जातमाहात्म्यवर्णनै = पुत्र के प्रभाव के वारवार दिखलाने से, ताम् = उस, देवीम् = विजया रानी से, समाश्वास्य = धैर्य बँधा कर, इति = वक्ष्यमाण प्रकार से, अवोचयत् = कहती हुई ॥ ६१ ॥

भावार्थः—धाय के भेष मे आगत देवी ने प्रसूत पुत्र के भौंरी, लहसुन, मस्सा शंख आदि शुभलक्षणो से उसके भविष्य प्रभाव का परिज्ञान कर वारवार उनके प्रदर्शन और फलाववोधन द्वारा रानी को सतुष्ट कर अवधिज्ञान द्वारा जान कर इस प्रकार कहा ॥ ६१ ॥

पुत्राभिवर्धनोपाये, देवि ! चिन्ता निवर्त्यताम् ।
क्षत्रपुत्रोचित कश्चि—देनं सम्वर्धयिष्यति ॥६२॥

अन्वयार्थौ—देवि = हे रानी एनम् = इस राजकुमार को, क्षत्रपुत्रोचितं यथा स्यात्तथा = क्षत्रिय कुमार के योग्य रीति से, कश्चित = कोई महाजन, सम्वर्धयिष्यति = बढावेगा । अतएव, पुत्राभिवर्धनो पाये = स्वपुत्र की वृद्धि और पालन आदि के विपय मे, चिन्ता = फिकर, निवर्त्यताम् = छोड़ देना चाहिये ॥६२॥

भावार्थ—हे देवी ! कोई प्रसिद्ध महाजन इस राजकुमार की क्षत्रियकुमार के अविरुद्ध ही रक्षा और पालनपोषण अवश्य करेगा, इसलिये तुम्हें इस विषयिक चिन्ता का परित्याग कर देना चाहिये ॥६२॥

इत्युक्ते कोऽपि हृष्टोऽभूद्, विसृष्टप्रेतसूनुकः ।
सनु सूनृतयोगीन्द्र—वाक्यात्तत्र गवेषयन् ॥६३॥

अन्वयार्थौ--इत्युक्ते = ऐसा कहे जाने पर, विसृष्टप्रेत-सुनुक = श्मशान भूमि मे गाढ़ दिया है मृत स्वपुत्र जिसने ऐसा, कः = कोई अपरिचित जन, सूनृतयोगीन्द्रवाक्यात् = किसी मुनि के सत्यार्थ वचन से, तत्र = श्मशान भूमि मे, सूनुम् = पुत्र को, गवेषयन् = तलाशता हुआ, दृष्ट = दृष्टिगोचर, अभूत = हुआ ॥ ६३ ॥

भावार्थ —जिस समय देवी विजया को समझा रही थी, उसी समय उसी दिन मृत स्वपुत्र को श्मशान में गाढ़ कर 'हे भव्य ! अपने मृत बालक क अन्तिम सस्कार के हेतु जब तू श्मशान मे जावेगा, तब तुझे वहाँ एक बालक पड़ा मिलेगा और इसका तू पालन पोषण करेगा इस प्रकार एक अवधिज्ञानी दिगम्बर जैन मुनि के यथार्थ वचन से श्मशान में ही पुत्र को तलाशता हुआ एक व्यक्ति विजया के दृष्टिगोचर हुआ ।६३

तद्दर्शनेन तद्वाक्यं, प्रमाणं निर्णिनाय सा ।

निश्चलादविसंवादाद्, वस्तुनो हि विनिश्चयः ॥६४॥

अन्वयार्थौ—सा = वह विजया रानी, तद्दर्शनेन = उस व्यक्ति के देखने से, तद्वाक्यम् = उस देवी के पूर्वोक्त वचनो का, प्रमाणम् = सत्य, निर्णिनाय = मानती हुई । नीति —हि = क्य कि, निश्चलात् = अटल, अविसंवादात् = निर्विवाद वचन से, वस्तुन. = वस्तु या बात का, विनिश्चय = अटल निश्चय, भवति = हो जाता है ॥ ६४ ॥

भावार्थ —दृढ निश्चायक प्रमाण के मिल जाने पर वस्तु, कार्य या बात का पूर्ण निश्चय हो जाता है। अतएव अभ्यागत व्यक्ति के देखने से विजया ने भी देवी के वचन की पूर्ति होते देख उसे सत्य माना ॥ ६४ ॥

ततो गत्यन्तराभावाद्, देवताप्रेरणाच्च सा ।
पित्रीयमुद्रयोपेत–माशास्यान्तर्धात सुतम् ॥९५॥

अन्वयार्थौ—तत = इसके बाद, सा = वह विजया रानी, गत्यन्तराभावात् = उपायान्तर के न होने से, च = और, देवता प्रेरणात् = देवी की प्रेरणा से, सुतम् = स्वपुत्र को, पित्रीयमुद्रया = पिता की अगूठी से, उपेतम् = युक्त, कृत्वा = करके, च = और, आशास्य = आशीर्वाद देकर, अन्तर्धात = छिप गई ॥९५॥

भावार्थ—पश्चात वह विजया रानी पुत्र के सुरीत्या पालन पोषण के अन्य उपाय के न होने और देवी की प्रेरणा से उसे पिता (सत्यधर) के नाम से अंकित अंगूठी पहिना कर 'जीव' 'चिरकाल तक जीओ' इस प्रकार आशीर्वाद देकर समीपस्थ झाडियों में ही छिप गई ॥ ९५ ॥

गन्धोत्कटोऽपि तं पश्यन्, नातृपद्वैश्यनायकः ।
एधोन्वेपिजनैर्दृष्टः, किं वा न प्रीतये मणिः ॥९६॥

अन्वयार्थौ—तम् = उस पुत्र को, पश्यन् = देखता हुआ, वैश्यनायकः = वैश्यश्रेष्ठ, गन्धोत्कटः = गन्धोत्कट, अपि = भी, न अतृपत् = तृप्त नहीं हुआ । वा = जैसे, एधोन्वेपिजनैः = ईन्धन तलाशने वाले मनुष्यों के द्वारा, दृष्ट = देखा गया, मणिः = मणि, प्रीतये = हर्ष के लिये, न भवति किम् = नहीं होता है क्या ? किन्तु, भवति एव = होता ही है ॥ ९६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पर्याप्त लकडियों के मिल जाने से ही प्रसन्न होने वाले लक्कड़हारों के किसी मणि के मिल जाने पर होने वाली खुशी

का पार नहीं रहता है, उसी प्रकार सुन्दर पुत्र के अनायास ही हाथ आजाने पर गन्धोत्कट भी मारे खुशी के अपने में न समाया और बहुत देर तक टकटकी लगाये हुये उसके रूपामृत का पान करता रहा ॥६६॥

हर्षकण्टकिताङ्गोऽय – मादधानस्तमङ्गजम् ।
जीवेत्याशिषमाकर्ण्य, तन्नाम समकल्पयत् ॥६७॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, तम् = उस, अङ्गजम् = पुत्र को, आदधान = उठाता हुआ, अतएव हर्षकण्टकिताङ्ग = हर्ष मे रोमाञ्चित है शरीर जिसका ऐसा, अयम् = यह गन्धोत्कट, जीव = (जिओ), इति = इस, आशिषम् = आशीर्वाद को, श्रुत्वा = सुनकर, तन्नाम् = उस पुत्र का वही नाम, समकल्पयत् = रखता हुआ ॥६७॥

भावार्थ —जब गन्धोत्कट ने उस पुत्र को जमीन पर से उठाया, तब मारे हर्ष के उसके रोंगटे खड़े हो गये। पश्चात् उसने, गुप्त विजया के द्वारा दिये गये 'जीव' आशीर्वाद के अनुसार उसका 'जीवक या जीवन्धर' नाम रक्खा ॥६७॥

अमृतं सूनुमज्ञानात्, संस्थितं कथमभ्यधाः ।
इति क्रुध्यन्स्वभार्यायै, सानन्दोऽयमदात्सुतम् ॥६८॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, अज्ञानात् = मूर्खता से, अमृतम् = नहीं मरे हुये, सूनुम् = पुत्र को, संस्थितम = मरा हुआ, कथम् = कैसे, अभ्यधाः = कह दिया, इति = इस प्रकार, स्वभार्यायै = अपनी स्त्री से, क्रुध्यन् = क्रोधित होता हुआ, सानन्द = सहर्ष, अयम् = यह गन्धोत्कट, सुतम् = पुत्र को, तस्यै = अपनी स्त्री के लिये, अदात् = सौंपता हुआ ॥६८॥

भावार्थः—गन्धोत्कट ने घर पहुंच कर 'जीवित पुत्र को मृत क्यों बताया' इस प्रकार बनावटी क्रोध कर अपनी स्त्री सुनन्दा को वह पुत्र सोंप दिया। तात्पर्य-कि अन्य का पुत्र जान कर सुनन्दा इसका सुरीत्या पालन न करेगी, इसलिये गन्धोत्कट ने यह बनावटी क्रोध किया और असली रहस्य गुप्त रक्खा, तथा भोलेपन एवं सद्यः मृतोत्पन्नत्व से वह भी इसका भेद न जान सकी ॥९८॥

अभ्यनन्दीत्सुनन्दापि, नन्दनस्यावलोकनात् ।
प्राणवत्प्रीतये पुत्रा, मृतोत्पन्नास्तु किन्पुनः ॥९९॥

अन्वयार्थौ—सुनन्दा=गन्धोत्कट की स्त्री, अपि=भी, नन्दनस्य=पुत्र के, अवलोकनात्=देखने से, अभ्यनन्दीत्=आनन्दित हुई, नीति—हि=क्योंकि, पुत्राः=सामान्य पुत्र, अपि=भी, प्राणवत्=प्राणों के समान, प्रीतये=आनन्द के लिये, भवन्ति=होते हैं। पुनः=फिर, मृतोत्पन्ना किम्=पहिले मरे गये पीछे सजीवित हुये पुत्रों का तो कहना ही क्या है ॥ ९९ ॥

भावार्थः—जब कि पुत्र-मात्र का दर्शन ही आनन्दप्रद होता है, तब भला मर कर उसी पर्याय में सजीवित होने वाले पुत्र के दर्शन से उत्पन्न हुये आनन्द का तो कहना ही क्या है। प्रकृत में उत्पन्न होते ही मृत पुनः तुरन्त ही सजीव हुये पुत्र को देख सुनन्दा भी हर्ष से फूली न समाई ॥९९॥

देवता जननीमस्य, बन्धुवेश्मपराङ्मुखीम् ।
दण्डकारण्यमध्यस्थ — मनैषीत्तापसाश्रमम् ॥१००॥

अन्वयार्थौ—देवता=देवी, अस्य=इस जीवन्धर की,

बन्धुवेश्मपराङ्मुखीम् = भाई के घर जाने की इच्छा न करने वाली, जननीम् = माता को, दण्डकारण्यमध्यस्थम् = दण्डक वन के बीच मे स्थित, तापसाश्रमम् = तपस्वियो के आश्रम को, अनैषीत् = ले गई ॥ १०० ॥

भावार्थ:—पश्चात् देवी ने विजया से उसके भाई के यहाँ जाने का बहुत अनुरोध किया। किन्तु जब वह वहाँ जाने को राजी न हुई, तब वह देवी उसे दण्डकवन में स्थित एक तपस्वियों के आश्रम में ले गई ॥ १०० ॥

कृत्वा च तां तपस्यन्तीं, सतोषा सा मिषादगात् ।
समीहितार्थसंसिद्धौ, मनः कस्य न तुष्यति ॥१०१॥

अन्वयार्थौ—सा = वह देवी, ताम् = उस विजया रानी को, तपस्यन्ती = तपस्विनी, च = भी, कृत्वा = बनाकर, सतोषा-सतो = सन्तुष्ट होती हुई, मिषात् = किसी बहाने से, अगात् = चली गई। नीति —हि = क्योंकि, समीहितार्थसंसिद्धौ = अभिलाषित कार्य के पूर्ण हो जाने पर, कस्य = किसका, मन = मन न तुष्यति = सन्तुष्ट नहीं होता है। किन्तु, सर्वषाम् मन = तुष्यति = सब का मन सन्तुष्ट हो जाता है ॥१०१॥

भावार्थ —अभीष्ट कार्य के पूर्ण हो जाने पर सभी का मन सन्तुष्ट हो जाता है। इस नीति के अनुसार वह देवी भी अपने अभीष्ट (जीवन्धर और विजया के जीवनादि की सुव्यवस्था) के सिद्ध होने पर सन्तुष्ट होकर किसी बहाने से स्वस्थान को चली गई ॥१०१॥

अवात्सीद्राजपत्नी च, वत्सं निजमनोगृहे ।
जिनपादाम्बुजं चैव, ध्यायन्ती हन्त तापसी ॥१०२॥

अन्वयार्थौ—च = और, हन्त = खेद की बात है कि, तापसी = तप तपने वाली, राजपत्नी = रानी विजया, जिनपादाम्बुजम् = जिनराज के चरणकमलो को, ध्यायन्ती = ध्यान करती हुई, निजमनोगृहे = अपने मन-रूपी मन्दिर से, वत्स = स्वपुत्र को, ध्यायन्ती = ध्याती हुई, अवात्सीत = रहने लगी ॥१०२॥

भावार्थः—देवी के अन्तर्ध्यान होजाने पर तपस्विनी विजया रानी सतत जिन देव के चरणारविंद का ध्यान करती हुई जब कभी पुत्र-चिन्ता से भी व्याकुल हो उठती थी ॥ १०२ ॥

अनल्पतूलतल्पस्थ – सवृंतप्रसवादपि ।
निर्भरं हन्त सीदन्त्यै, दर्भशय्याप्यरोचत ॥१०३॥

अन्वयार्थौ—हन्त = खेद की बात है कि, अनल्पतूलतल्पस्थसवृन्तप्रसवात् = बहुत ज्यादह रुई से बने मोटे गद्दे पर पड़े हुये डण्डी सहित एक फूल से, अपि = भी, निर्भरम् = अत्यन्त, सीदन्त्यै = दुखित होने वाली, तस्यै = उस विजया रानी के लिये, दर्भशय्या = डाभ की आसनी, अपि = भी, अरोचित = प्रिय लगने लगी ॥ १०३ ॥

भावार्थः—जो विजया रानी, रानीपन में बहुत ज्यादह रुई से बने हुये मोटे गद्दे पर पड़े हुये फूलों की एक डण्डी से भी दुःखानुभव करती थी, उसी को तप तपते समय खुरदरी दुःखोत्पादक डाभ की शय्या और आसनी आदि भी प्रिय और सुखद प्रतीत होने लगी ॥१०३॥

स्वहस्तलूननीवारोऽप्याहारोऽस्याःपरम् किम् ।
अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१०४॥

अन्वयार्थौ—तथा परेण=और से, किम्=क्या, किन्तु, अस्या.=इस विजया रानी का, आहार=भोजन, अपि=भी, स्वहस्तलूननीवार=अपने हाथ से काटा हुआ धान्य, अभूत्=हुआ । नीति—हि=क्योंकि, कृतम्=बाँधा हुआ, शुभाशुभम्=शुभ या अशुभ कर्म, अवश्यम्=अवश्य, अनुभोक्तव्यम्=भोगना पड़ता है ॥ १०४ ॥

भावार्थ.—जीव को किये हुये पुण्य पाप का फल अवश्य भोगना पड़ता है । इसी सिद्धान्त के अनुसार विजया को भी पूर्वबद्ध पाप कर्म के उदय से सुख से भोजन तक नहीं मिला—अपने हाथ से काटे हुये धान्य से ही गुजारा करना पड़ा ॥ १०४ ॥

अथ गन्धोत्कटायार्थं, मर्भकार्थं महोत्सवम् ।
आत्मार्थं गणयन्मूढः, काष्ठांगारोऽप्यदान्मुदा ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थौ-अथ=इसके पश्चात्, मूढः=मूर्ख, काष्ठाङ्गार.=काष्ठाङ्गार, अर्भकार्थम्=पुत्र जन्म के हेतु, महोत्सवम्=महान् उत्सव को, आत्मार्थम्=अपने राजा होने के हेतु, गणयन्=समझता हुआ, मुदा=हर्ष से, गन्धोत्कटाय=गन्धोत्कट के लिये, अर्थम्=धन को, अदात्=देता हुआ ॥ १०५ ॥

भावार्थ—पश्चात् पुत्र के जन्म के उपलक्ष्य में गन्धोत्कट ने एक बड़ा भारी उत्सव मनाया, जिसको मूर्ख काष्ठांगार ने अपने राजा होने की खुशी में किया हुआ समझ खुश हो गन्धोत्कट सेठ को बहुत सा धन (पारितोषिक) दिया ॥ १०५ ॥

तत्क्षणे तत्पुरे जातान्, जातानपि तदाज्ञया ।
लब्ध्वा वैश्यपतिः पुत्रं, मित्रैः सार्धमवर्धयत् ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, वैश्यपतिः=वैश्य-मुख्य गन्धोत्कट, तत्पुरे=उस राजपुरी नगरी मे, तत्क्षणे=उस जीवन्धर के जन्म दिन मे जातान्=उत्पन्न हुये, जातान्=औरो के अन्य बालकों को, अपि=भी, तदाज्ञया=उस काष्ठाङ्गार की आज्ञा से, लब्ध्वा =प्राप्त कर, मित्रैः सार्धम्=मित्रों के साथ, पुत्रम्=स्वपुत्र जीवन्धर को, अवर्धयत्=बढ़ाता हुआ ॥ १०६ ॥

भावार्थः—पश्चात् उत्सव के कारण गन्धोत्कट और काष्ठांगार में परस्पर प्रेम तो हो ही गया था, अतएव गन्धोत्कट ने जीवन्धर के उत्पन्न होने के समय राजपुरी में उत्पन्न हुये औरों के बालकों को राजा काष्ठागार की आज्ञा से अपने यहाँ बुला कर उनके साथ स्वपुत्र जीवन्धर का पालन करने लगा ॥ १०६ ॥

अथ जातः सुनन्दाया, नन्दाढ्यो नाम नन्दनः ।
तेन जीवन्धरो रेजे, सौभ्रात्रं हि दुरासदम् ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, सुनन्दायाः=सुनन्दा के, नन्दाढ्य नाम=नन्दाढ्य नामक, नन्दनः=पुत्र, जातः=पैदा हुआ, तेन=उससे, जीवन्धरः=जीवन्धर, रेजे=सुशोभित होगया । नीतिः—हि=क्योंकि, सौभ्रात्रम्=योग्य भाई का मिलना, दुरासदम्=कठिन, भवति=होता है ॥ १०७ ॥

भावार्थः—कुछ समय बाद गन्धोत्कट की स्त्री सुनन्दा के एक नन्दाढ्य नामक सुयोग्य पुत्र पैदा हुआ, जिससे जीवन्धर की शोभा

और वृद्धिगत हुई। ठीक ही है कि यद्यपि संसार में भाई तो बहुत होते हैं, पर सुयोग्य भाई का मिलना अति कठिन है ॥ १०७ ॥

एवं सद्बन्धुमित्रोऽय, मेधमानो दिने दिने ।
अतिशेते स्म शीतांश, मकलंकांगभावतः ॥१०८॥

अन्वयार्थौ—एवम् = इस प्रकार, सद्बन्धुमित्र. = योग्य भाई और मित्रों सहित, दिनेदिने = प्रतिदिन, एधमान = बढ़ता हुआ, अयम् = यह जीवन्धर, अकलकाङ्ग भावतः = अपने निर्दोष शरीर से, शीतांशुम् = चन्द्रमा को, अपि = भी, अतिशेतेस्म = पराजित करता हुआ ॥ १०८ ॥

भावार्थ·—और अपने भाई तथा मित्रों के साथ शुक्ल पक्ष के चन्द्र समान प्रतिदिन बढ़ते हुये जीवन्धर ने, अपने सर्वांगसुन्दर (काणखञ्जोन्नासवधिरकुब्जत्वादिकलकविहीन) शरीर से कलकी (शशाक होने से) चन्द्र को भी लज्जित कर दिया ॥ १०८ ॥

ततःशैशवसम्भूष्णु, सर्वव्यसनदूरगः ।
पञ्चमं च वयो भेजे, भाग्ये जाग्रति का व्यथा ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, शैशवसम्भूष्णु सर्व व्यसनदूरगः = बाल्यावस्था में उत्पन्न होने वाले सब प्रकार की आपत्ति और खोटी आदतों से रहित, सः = वह जीवन्धर, पचमम् = पञ्चम, वयः = वर्ष को, भेजे = प्राप्त हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, भाग्ये = भाग्य के, जागृति सति = जागृत होने पर, का = कौन सा, व्यथा = दुख. भवति = होता है। किन्तु, कापि न = कोई भी नहीं ॥ १०९ ॥

भावार्थ.—भाग्यशाली मनुष्य किसी भी दुःख या दुर्व्यसन के चगुल में नहीं फँसता है । तदनुसार सौभाग्यशाली जीवन्धर ने भी क्रम से बढ़ते हुये सर्व प्रकार की आपत्ति और दुर्व्यसनों से दूर रहते हुये पंचम वर्ष में पग बढ़ाया ॥ १०९ ॥

अथानर्थकमव्यक्त, मतिहृद्यं च वाङ्मयम् ।
मुक्त्वातिव्यक्तगीरासीत्, स्वय वृण्वन्ति हि स्त्रियः ॥११०॥

अन्वयार्थौ—अथ=पश्चात्, स=वह जीवन्धर, अनर्थकम्=अर्थहीन, अव्यक्तम्=अस्पष्ट, च=और, अतिहृद्यम्=अतिमिष्ट, वाङ्मयम्=शब्दसमूह को, मुक्त्वा=छोड़ कर, अतिव्यक्तगी.=सुस्पष्ट बोलने वाला, आसीत्=हो गया । नीति—हि=क्योंकि, स्त्रिय=स्त्रियाँ, स्वयम्=अपने आप ही, वृण्वन्ति=वरण कर लेती है ॥ ११० ॥

भावार्थ —स्त्रियाँ सुयोग्य पति को स्वयमेव वर लिया करती हैं । इसी नीति के अनुसार सुसस्कृत वाणी कामिनी ने भी कमनीय जीवन्धर कुमार रूप योग्य पति को स्वय वर लिया । अर्थात् वह निरर्थक, अस्पष्ट और तोतली बोली को छोड़ सुस्पष्ट भाषी हो गया ॥ ११० ॥

आचार्यकवपुः कश्चि, दार्यनन्दीति कीर्तितः ।
आसीदस्य गुरुः पुण्याद्, गुरुरेव हि देवता ॥१११॥

अन्वयार्थौ—तदा=उस समय, आचार्यकवपु=आचार्य पद-प्राप्त, आर्यनन्दी इति कीर्तित=आर्यनन्दी नाम से प्रसिद्ध, कश्चित्=कोई विद्वान्, अस्य=इस जीवन्धर के, पुण्यात्=पुण्य से, गुरु=अध्यापक, आसीत्=हुये । हि=क्योंकि, गुरुः=अध्यापक, एव=ही, देवता=देव, कथ्यते=कहा जाता है ॥१११॥

भावार्थ—अभीष्ट फलप्रद गुरु यद्यपि कठिनाइयों से प्राप्त हुआ करते हैं। तथापि जीवन्धर के पुण्योदय से एक आचार्य पदवी धारक विख्यात आर्यनन्दी विद्वान् गुरु स्वयमेव प्राप्त होगये॥ १११ ॥

निष्प्रत्यूहेष्टसिद्ध्यर्थं सिद्धपूजादिपूर्वकम् ।
सिद्धमातृकया सिद्धा—मथलेभे सरस्वतीम् ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, सः = वह जीवन्धर, निष्प्रत्यूहेष्टसिद्ध्यर्थम् = निर्विघ्नअभीष्ट सिद्धि के लिये, सिद्धपूजादिपूर्वकम = सिद्धमहाराज की पूजा आदि करके, सिद्धमातृकया = अ, इ, उ, ऋ, क, ख इत्यादि सिद्धिमातृका या वर्णमाला नाम से, सिद्धाम् = प्रसिद्ध, सरस्वतीम् = विद्या को, लेभे = प्राप्त करता हुआ॥ ११२ ॥

भावार्थ—गुरु प्राप्ति के पश्चात् विद्या की निर्विघ्न सिद्धि के लिये सिद्धपूजन, हवन और दानादि उत्सव कर जीवन्धर ने वर्णमाला सीखना प्रारम्भ किया॥ ११२ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते भावार्थदीपिकाटीकोपेते
क्षत्रचूडामणौ नीतिकाव्ये प्रथमलम्ब समाप्त ।

अथ द्वितीयो लम्बः

अथ विद्यागृहं किञ्चि — दासाद्य सखिमण्डितः ।
पाण्डिताद्विश्वविद्याया — मध्यगीष्टातिपण्डितः ॥ १ ॥

अन्वयार्थो—अथ = इसके बाद, सखिमण्डित = मित्रमण्डल सहित, जीवन्धर = जीवन्धर, किञ्चित् = किसी, विद्यागृहम् = विद्यालय को, आसाद्य = प्राप्त कर, विश्वविद्यायाम् = समस्त विद्याओं मे, पण्डितात् = विद्वान्, आर्यनन्दिनः = आर्यनंदी से, अध्यगीष्ट = पढ़ता हुआ, च = और, पण्डितः = अद्वितीयविद्वान, अपि = भी, आसीत = होगया ॥ १ ॥

भावार्थ.—जीवन्धर ने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् मित्रों के साथ किसी पाठशाला में प्रविष्ट होकर सर्वविद्याविशारद आर्यनन्दी गुरु से अध्ययन कर अपूर्व विद्वत्ता प्राप्त की ॥ १ ॥

तस्य प्रश्रयसुश्रूषा — चातुर्याद्गुरुगोचरात् ।
स्मृता इवाभवन्विद्या, गुरुस्नेहो हि कामसूः ॥ २ ॥

तस्य = उस जीवन्धर को, गुरुगोचरात् = गुरु विषयक, प्रश्रयसुश्रूषाचातुर्यात् = विनय और सेवा सुश्रूषा की चतुराई से विद्या. = विद्याएँ, स्मृता. इव = स्मरण की हुई के समान, अभवन् = प्राप्त होगई, नाति —हि = क्योंकि, गुरुस्नेह. = गुरु का प्रेम, कामसूः = इच्छाओं को पूर्ण करने वाला, भवति = होता है ॥२॥

भावार्थ —यह नियम है कि जिस पर गुरु का हार्दिक प्रेम होता है, उसकी सब कामनाएँ पूर्ण होजाती हैं । तदनुसार जीवन्धर की विनय और सेवा सुश्रूषा से उनके गुरु आर्यनन्दी का भी उन पर अनन्य प्रेम होगया था । यही कारण है जो उन्हें समस्त विद्याएँ इतनी आसानी से

भावार्थ—अभीष्ट फलप्रद गुरु यद्यपि कठिनाइयों से प्राप्त हुआ करते हैं। तथापि जीवन्धर के पुण्योदय से एक आचार्य पदवी धारक विख्यात आर्यनन्दी विद्वान् गुरु स्वयमेव प्राप्त होगये ॥ १११ ॥

निष्प्रत्यूहेष्टसिद्ध्यर्थं सिद्धपूजादिपूर्वकम् ।
सिद्धमातृकया सिद्धा–मथलेभे सरस्वतीम् ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, सः = वह जीवन्धर, निष्प्रत्यूहेष्टसिद्ध्यर्थम् = निर्विघ्न अभीष्ट सिद्धि के लिये, सिद्ध-पूजादिपूर्वकम् = सिद्धमहाराज की पूजा आदि करके, सिद्धमातृ-कया = अ, इ, उ, ऋ, क, ख इत्यादि सिद्धिमातृका या वर्णमाला नाम से, सिद्धाम् = प्रसिद्ध, सरस्वतीम् = विद्या को, लेभे = प्राप्त करता हुआ ॥ ११२ ॥

भावार्थ—गुरु प्राप्ति के पश्चात् विद्या की निर्विघ्न सिद्धि के लिये सिद्धपूजन, हवन और दानादि उत्सव कर जीवन्धर ने वर्णमाला सीखना प्रारम्भ किया ॥ ११२ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते भावार्थदीपिकाटीकोपेते
क्षत्रचूडामणौ नीतिकाव्ये प्रथमलम्ब समाप्त. ।

अथ द्वितीयो लम्बः

अथ विद्यागृहं किञ्च — दासाद्य सखिमण्डितः ।
पाण्डितादिश्वविद्याया — मध्यगीष्टातिपण्डितः ॥ १ ॥

अन्वयार्थो—अथ = इसके बाद, सखिमण्डितः = मित्र-मण्डल सहित, जीवन्धरः = जीवन्धर, किञ्चित् = किसी, विद्या-गृहम् = विद्यालय को, आसाद्य = प्राप्त कर, विश्वविद्यायाम = समस्त विद्याओं में, पण्डितात् = विद्वान्, आर्यनन्दिन = आर्यनंदी से, अध्यगीष्ट = पढता हुआ, च = और, पण्डितः = अद्वितीयविद्वान, अपि = भी, आसीत् = होगया ॥ १ ॥

भावार्थ.—जीवन्धर ने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्ति के पश्चात मित्रों के साथ किसी पाठशाला में प्रविष्ट होकर सर्वविद्याविशारद आर्यनन्दी गुरु से अध्ययन कर अपूर्व विद्वत्ता प्राप्त की ॥ १ ॥

तस्य प्रश्रयसुश्रूषा — चातुर्याद्गुरुगोचरात् ।
स्मृता इवाभवन्विद्या, गुरुस्नेहो हि कामसूः ॥ २ ॥

तस्य = उस जीवन्धर की, गुरुगोचरात् = गुरु विषयक, प्रश्रयसुश्रूषाचातुर्यात् = विनय और सेवा सुश्रूषा की चतुराई से विद्याः = विद्याएँ, स्मृता. इव = स्मरण की हुई के समान, अभवन् = प्राप्त होगई, नाति —हि = क्योंकि, गुरुस्नेह. = गुरु का प्रेम, कामसू. = इच्छाओं को पूर्ण करने वाला, भवति = होता है ॥२॥

भावार्थ.—यह नियम है कि जिस पर गुरु का हार्दिक प्रेम होता है, उसकी सब कामनाएँ पूर्ण होजाती हैं । तदनुसार जीवन्धर की विनय और सेवा सुश्रूषा से उनके गुरु आर्यनन्दी का भी उन पर अनन्य प्रेम होगया था । यही कारण है जो उन्हें समस्त विद्याएँ इतनी आसानी से

प्राप्त होगई कि जैसे पढ़ कर भूली हुई विद्याओं का स्मरणही कर लिया हो ॥ २ ॥

अनुजीवकमेवात्र, जीवलोके विपश्चितः ।
इति निश्चयतः सूरिः, सुतरां प्रीतिमव्रजत् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थौं—सूरिः=आर्यनन्दी गुरु, अत्र जीवलोके= इस संसार में, विपश्चितः=सब विद्वान, अनुजीवकम्=जीवन्धर स्वामी से हीन, एव=ही, सन्ति=हैं। इति=ऐसे, निश्चयतः= निश्चय से, सुतराम्=अपने आप, प्रीतिम्=आनन्द को, अव्रजत् =प्राप्त हुए ॥ ३ ॥

भावार्थ—जीवन्धर की योग्यता देख कर, इस भूमण्डल पर जितने विद्वान् हैं, उनमें जीवन्धर से टक्कर लेने वाला कोई भी नहीं है, ऐसा दृढ़ निश्चय कर आर्यनन्दी गुरु बहुत प्रसन्न हुये ॥ ३ ॥

आत्मकृत्यमकृत्य च, सफलं प्रीतये नृणाम् ।
किम्पुनः श्लाघ्यभूतं तत्, विद्यास्थापनात्परम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौं—नृणाम्=मनुष्यों के, अकृत्यम्=खोटा, च=भी, आत्मकृत्यम्=अपने द्वारा कृत कार्य, सफलं सत्=सफल होता हुआ, प्रीतये=प्रीति के लिये, भवति=होता है। पुनः= फिर भला, श्लाघ्यभूतम् किम्=अपने प्रशस्त कार्य के सफल होने पर तो कहना ही क्या है। च=और, विद्यास्थापनात्=विद्या-दान से, परम=उत्तम, तत्=प्रशस्तकार्य, किम्=कौन, अस्ति= हो सकता है ? अर्थात्, किमपि न=कोई भी नहीं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य यदि किसी खोटे कार्य को प्रारम्भ कर उसमें सफलता प्राप्त करता है, तो भी उसे अपार हर्ष होता है, फिर यदि किसी

प्रशस्त कार्य में सफलता प्राप्त करले, तब तो उसकी खुशी का वर्णन ही नहीं हो सकता है। और इस लोक में विद्यादान से बढ़ कर कोई अन्य श्रेयस्कर कार्य भी नहीं है। अतएव जीवन्धर को विद्या प्रदान कर आर्यनन्दी महाराज का प्रसन्न होना भी उचित ही था ॥ ४ ॥

अथ प्रसन्नधी: सूरि – रन्तेवासिनमेकदा ।

एकान्ते हि निजप्रान्त – मावसन्तमचीकथत् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, प्रसन्नधी. = प्रसन्नचित, सूरि: = गुरु आर्यनन्दी, एकदा = एक समय, निजप्रान्तम् = अपने समीप, एकान्ते = निर्जन स्थान में, आवसन्तम् = बैठे हुए, अन्तेवासिनम् = विद्यार्थी जीवन्धर से, अचीकथत् = कहते हुए॥५॥

भावार्थ.—विद्या पढ़ाने के बाद एक समय जब दोनों गुरु शिष्य प्रसन्नता से किसी एकान्त में बैठे हुये थे, उस समय गुरु महाराज ने जीवन्धर से अधोलिखित वृत्तान्त कहा ॥ ५ ॥

श्रुतशालिन्महाभाग !, श्रूयतामिह कस्यचित् ।

चरितं चरितार्थेन, यदत्यर्थं दयावहम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थौ—श्रुतशालिन् = हे शास्त्रविशारद, महाभाग = भाग्यशील जीवन्धर ! यत् = जो, चरितम् = चरित्र, चरितार्थेन = सुनने से, अत्यर्थम् = अत्यन्त, दयावहम् = करुणाजनक, अस्ति = है, एवंभूतम् = ऐसा, कस्यचित् = किसी प्रसिद्ध पुरुष का, तत् = वह चरित्र, श्रूयताम् = सुनो ॥ ६ ॥

भावार्थ.—आर्यनन्दी ने जीवन्धर से कहा कि हे सर्व शास्त्र-निपुण ! भाग्यशील ! जीवन्धर ! मैं इस समय किसी प्रसिद्ध पुरुष के चरित्र को सुनाता हू, जो अतिशय करुणाजनक है। उसे तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ६ ॥

प्राप्त होगई कि जैसे पढ़ कर भूली हुई विद्याओं का स्मरणही कर लिया हो ॥ २ ॥

अनुजीवकमेवात्र, जीवलोके विपश्चितः ।
इति निश्चयतः सूरिः, सुतरां प्रीतिमत्रजत् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थौ—सूरि = आर्यनन्दी गुरु, अत्र जीवलोके = इस संसार में, विपश्चित = सब विद्वान्, अनुजीवकम् = जीवन्धर स्वामी से हीन, एव = ही, सन्ति = हैं। इति = ऐसे, निश्चयतः = निश्चय से, सुतराम् = अपने आप, प्रीतिम् = आनन्द को, अत्रजत् = प्राप्त हुए ॥ ३ ॥

भावार्थ —जीवन्धर की योग्यता देख कर, इस भूमण्डल पर जितने विद्वान् हैं, उनमें जीवन्धर से टक्कर लेने वाला कोई भी नहीं है, ऐसा दृढ़ निश्चय कर आर्यनन्दी गुरु बहुत प्रसन्न हुये ॥ ३ ॥

आत्मकृत्यमकृत्य च, सफलं प्रीतये नृणाम् ।
किम्पुनः श्लाघ्यभूतं तत्, विद्यास्थापनात्परम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौ—नृणाम् = मनुष्यों के, अकृत्यम् = खोटा, च = भी, आत्मकृत्यम् = अपने द्वारा कृत कार्य, सफल सत् = सफल होता हुआ, प्रीतये = प्रीति के लिये, भवति = होता है। पुनः = फिर भला, श्लाध्यभूतम् किम् = अपने प्रशस्त कार्य के सफल होने पर तो कहना ही क्या है। च = और, विद्यास्थापनात् = विद्या-दान से, परम = उत्तम, तत् = प्रशस्तकार्य, किम् = कौन, अस्ति = हो सकता है? अर्थात्, किमपि न = कोई भी नहीं ॥ ४ ॥

भावार्थ —मनुष्य यदि किसी खोटे कार्य को प्रारम्भ कर उसमें सफलता प्राप्त करता है, तो भी उसे अपार हर्ष होता है, फिर यदि किसी

प्रशस्त कार्य में सफलता प्राप्त करले, तब तो उसकी खुशी का वर्णन ही नही हो सकता है। और इस लोक मे विद्यादान से बढ़ कर कोई अन्य श्रेयस्कर कार्य भी नहीं है। अतएव जीवन्धर को विद्या प्रदान कर आर्यनन्दी महाराज का प्रसन्न होना भी उचित ही था ॥ ४ ॥

अथ प्रसन्नधीः सूरि – रन्तेवासिनमेकदा ।

एकान्ते हि निजप्रान्त – मावसन्तमचीकथत् ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, प्रसन्नधीः = प्रसन्नचित्त, सूरिः = गुरु आर्यनन्दी, एकदा = एक समय, निजप्रान्तम् = अपने समीप, एकान्ते = निर्जन स्थान में, आवसन्तम् = बैठे हुए, अन्तेवासिनम् = विद्यार्थी जीवन्धर से, अचीकथत् = कहते हुए॥५॥

भावार्थ:—विद्या पढाने के बाद एक समय जब दोनों गुरु शिष्य प्रसन्नता से किसी एकान्त में बैठे हुये थे, उस समय गुरु महाराज ने जीवन्धर से अधोलिखित वृत्तान्त कहा ॥ ५ ॥

श्रुतशालिन्महाभाग !, श्रूयतामिह कस्यचित् ।

चरितं चरितार्थेन, यदत्यर्थं दयावहम् ॥ ६ ॥

अन्वयार्थौ—श्रुतशालिन् = हे शास्त्रविशारद, महाभाग = भाग्यशील जीवन्धर ! यत् = जो, चरितम् = चरित्र, चरितार्थेन = सुनने से, अत्यर्थम् = अत्यन्त, दयावहम् = करुणाजनक, अस्ति = है, एवभूतम् = ऐसा, कस्याचित् = किसी प्रसिद्ध पुरुष का, तत् = वह चरित्र, श्रूयताम् = सुनो ॥ ६ ॥

भावार्थ—आर्यनन्दी ने जीवन्धर से कहा कि हे सर्व शास्त्र-निपुण ! भाग्यशील ! जीवन्धर ! मैं इस समय किसी प्रसिद्ध पुरुष के चरित्र को सुनाता हू, जो अतिशय करुणाजनक है। उसे तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ६ ॥

विद्याधरास्पदे लोके, लोकपालाह्वयान्वितः।
लोकं वै पालयन्भूपः, कोऽपि कालमजीगमत् ॥७॥

अन्वयार्थौ—विद्याधरास्पदे=विद्याधरों के निवास स्थान स्वरूप, लोके=देश मे, लोकम्=प्रजा को, पालयन्=पालन करता हुआ, कः=कोई, लोकपालाह्वयान्वितः=लोकपालनामक, भूपः=राजा, कालम्=समय को, अजीगमत्=बिता रहा था ७

भावार्थः—विद्याधर लोक में एक लोकपाल नामक राजा न्याय पूर्वक प्रजा पालन कर रहा था ॥७॥

क्षणक्षीणत्वमैश्वर्ये, क्षीवाणामिव बोधयत्।
क्षेपीयः पश्यतां नश्य-दभ्रमैक्षिष्ट सोऽधिराट् ॥८॥

अन्वयार्थौ—एक समय, सः=वह अधिराट्=राजा, क्षीवाणां=धनादि मे उन्मत्त जनों को, ऐश्वर्ये=ऐश्वर्य के विषय मे, क्षणक्षीणत्वम्=क्षण भर मे नाशपने को, बोधयत् इव=सूचित करते हुए के सदृश, पश्यताम्=देखने वालो के, अग्रे=सन्मुख, क्षेपीयः=शीघ्र, नश्यत्=नष्ट होने वाले, अभ्रम्=मेघ को, ऐक्षिष्ट=देखता हुआ ॥ ८ ॥

भावार्थ.—एक समय लोकपाल राजा ने, धनादि मे मत्त हुए पुरुषो को 'यह तुम्हारा सारा ऐश्वर्य मेरे समान क्षणस्थायी है, इसमें उन्मत्त होना बड़ी भूल है—इत्यादि, ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता को ही मानो दर्शाने वाले क्षणभंगुर मेघ को देखा ॥८॥

तद्वीक्षणेन वैराग्यं, विजृम्भे महीभुजः।
प्रफुल्लति हि निर्वेगो, भव्यानां कालपाकतः ॥९॥

अन्वयार्थौ—तद्वीक्षणेन = उस मेघ के देखने से, महीभुजः = राजा के, वैराग्यम् = वैराग्य, विजजृम्भे = उत्पन्न होगया, नीतिः—हि = क्योंकि, कालपाकतः = काललब्धि के आजाने से, भव्यानाम् = भव्य जीवों के, निर्वेगः = वैराग्य, पम्फुलीति = विशेष रूप से प्रगट हो ही जाना है ॥९॥

भावार्थ.—जब भव्यजीवों के आत्मकल्याण का समय (काल-लब्धि) आजाता है, तब उनके संसारिक विषयों से उदासीनता होने लगती है। तदनुसार लोकपाल राजा का सुधार काल भी निकट था जिससे उसको भी क्षणोत्पन्नविनाशी मेघ को देख वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥ ९ ॥

ततोऽय पुत्रनिक्षिप्त- राज्यभारः क्षितीश्वरः ।
जैनीं दीक्षामुपादत्त, यस्यां कायेऽपि हेयता ॥१०॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, अयं = यह, क्षितीश्वर = राजा, पुत्रनिक्षिप्तराज्यभारः सन् = पुत्र पर छोड़ दिया है राज्य भार जिसने ऐसा होता हुआ, यस्याम् = जिस दिगम्बर दीक्षा में, काये = शरीर के विषयमें, अपि = भी, हेयता = हेयपना, भवति = होता है, एतम्भूताम् = ऐसी. जैनीम् = जिनेन्द्रोक्त, दीक्षाम् = दिगम्बर मुनिदीक्षा को, उपादत्त = ग्रहण करता हुआ ॥१०॥

भावार्थ:—उस लोकपाल राजा ने मेघावलोकन से, विरक्त होकर राज्य तो पुत्र के सुपुर्द करदिया और जिसमें निज शरीर को भी त्याज्य समझा जाता है ऐसी दिगम्बर जैन मुनिदीक्षा धारण करली॥१०॥

तपासि तप्यमानस्य, तस्य चासीदहो पुनः
व्यो महारोगो, भुक्तं यो भस्मयेत् क्षणात ॥११॥

विद्याधरास्पदे लोके, लोकपालाह्वयान्वितः ।
लोकं वै पालयन्भूपः, कोऽपि कालमजीगमत् ॥७॥

अन्वयार्थौ—विद्याधरास्पदे = विद्याधरों के निवास स्थान स्वरूप, लोके = देश में, लोकम् = प्रजा को, पालयन् = पालन करता हुआ, कः = कोई, लोकपालाह्वयान्वितः = लोकपालनामक, भूपः = राजा, कालम् = समय को, अजीगमत् = बिता रहा था ७

भावार्थः—विद्याधर लोक मे एक लोकपाल नामक राजा न्याय पूर्वक प्रजा पालन कर रहा था ॥७॥

क्षणक्षीणत्वमैश्वर्ये, क्षीबाणामिव बोधयत् ।
क्षेपीयः पश्यता नश्य-दभ्रमैक्षिष्ट सो ऽधिराट् ॥८॥

अन्वयार्थौ—एक समय, स = वह अधिराट् = राजा, क्षीबाणा = धनादि मे उन्मत्त जनों को, ऐश्वर्ये = ऐश्वर्य के विषय मे, क्षणक्षीणत्वम् = क्षण भर मे नाशपने को, बोधयत् इव = सूचित करते हुए के सदृश, पश्यताम् = देखने वालो के, अग्रे = सन्मुख, क्षेपीयः = शीघ्र, नश्यत् = नष्ट होने वाले, अभ्रम् = मेघ को, ऐक्षिष्ट = देखता हुआ ॥ ८ ॥

भावार्थ —एक समय लोकपाल राजा ने, धनादि से मत्त हुए पुरुषो को 'यह तुम्हारा सारा ऐश्वर्य मेरे समान क्षणस्थायी है, इसमें उन्मत्त होना बड़ी भूल है—इत्यादि, ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता को ही मानो दर्शाने वाले क्षणभंगुर मेघ को देखा ॥८॥

तद्वीक्षणेन वैराग्यं, विजजृम्भे महीभुजः ।
प्रफुल्लीति हि निर्वेगो, भव्याना कालपाकत ॥९॥

अशक्त्यैव तपः सोऽय, राजा राज्यमिवात्यजत् ।
श्रेयांसि बहुविघ्नानी- त्येतन्न ह्यधुनाभवत् ॥१३॥

अन्वयार्थो—सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह मुनिरूप, राजा = लोकपाल राजा, अशक्त्या = शक्तिके न होने से, एव = ही, राज्यम् इव = राज्यके समान, तपः = तपको, अपि = भी, अत्यजत् = छोडता हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, श्रेयांसि = प्रशस्त कार्य, बहु-विघ्नानि = बहुविघ्नयुक्त, भवन्ति = होते हैं । इति = इस प्रकार, एतत् = यह नियम, अधुना = इस समय, नया न = नहीं, अभवत् = हुआ है । अपितु प्राचीनमेव ॥१३॥

भावार्थ.—भूतपूर्व लोकपाल राजा (मुनि) ने राज्यावस्था में जिस प्रकार राज्य का परित्याग करदिया था, उसी प्रकार भस्मक रोग जनित बाधा के न सह सकने से तप भी छोड़ दिया । क्योंकि "अच्छे कार्यों में विघ्न बहुत आते हैं" यह नियम अनादि से ही चला आया है । तदनुसार प्रकृत मुनिराज के प्रशस्त कार्यरूप तपश्चर्या में भी भस्मक रोगरूप विघ्न आ उपस्थित हुआ ॥१३॥

तपसाच्छादितस्तिष्ठन्, स्वैराचारी हि पातकी ।
गुल्मेनान्तर्हितोगृह्णन्, विष्करानिव नाफलः ॥१४॥
अवर्तिष्ट यथेष्टं सः, पाखण्डतपसा पुनः ।
चित्रं जैनी तपस्या हि, स्वैराचारविरोधिनी ॥१५॥

अन्वयार्थो—पुनः = फिर, स्वैराचारी = स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला, अतएव, पातकी = पापी, सः = भूतपूर्व लोकपाल राजा, तपसा = तपसे, आच्छादित. तिष्ठन् = युक्त होता हुआ, गुल्मेन = झाड़ी से, अन्तर्हित = छिपे हुए, और, विष्करान् =

अन्वयार्थौ—पुन. = फिर, अहो = आश्चर्य की बात है, यत् = कि, तपांसि = तपो को, तप्यमानस्य = तपने वाले, तस्य = उस लोकपाल मुनि के, भस्मकाख्य = भस्मक नामक, महा-रोग = राजरोग, आसीत् = होगया, य = जो, भुक्तम् = खाये हुए को, क्षणात् = क्षणभर में, भस्मयेत् = भस्म कर देता है ॥११॥

भावार्थ.—जब लोकपाल राजा दिगम्बर मुनि होकर तपश्चर्या करने लगा, तब उसको, अन्न को खातेही क्षणमात्र में भस्म कर देने वाला भस्मक नामक महा रोग होगया ॥११॥

न हि वारयितुं शक्यं, दुष्कर्माल्पतपस्यया ।
विस्फुलिङ्गेन किं शक्यं, दग्धुमार्द्रमपीन्धनम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—हि = क्योंकि, अल्पतपस्यया = थोड़ी तपश्चर्या से, दुष्कर्म = अतिशय खोटा कर्म वारयितुम् = नष्ट करने के लिये, शक्यम् = समर्थ नहीं होता है, यथा = जैसे, विस्फुलिंगेन = अग्नि की चिनगारी, आर्द्रम = गीला, इन्धनम् = ईंधन, दग्धुम् = जलाने को, शक्यम् किम् = समर्थ हो सकती है क्या ?, अपितु न = किन्तु नहीं ॥१२॥

भावार्थ —जैसे अग्नि की चिनगारी द्वारा गीला ईंधन (लकडी छाना आदि) नहीं जलाया जासकता है, किन्तु उसके जलाने के लिये जाज्वल्यमान अग्नि की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार थोडे तपसे प्रबल खोटा कर्म भी नष्ट नहीं किया जासकता है। किन्तु उसके नष्ट करने के लिये घोर तपकी आवश्यकता होती है। तदनुसार लोकपाल मुनि की थोड़ी तपश्चर्या के द्वारा पूर्वबद्ध महान अशुभ कर्मोदय न रोका जासका, जिससे तप तपते समय भी उसे भस्मक नामक राज रोग हुआ ॥१२॥

अन्वयार्थौ—तद्वीक्षणेन = उस मेघ के देखने से, महीभुजः = राजा के, वैराग्यम् = वैराग्य, विजजृम्भे = उत्पन्न होगया, नीतिः—हि = क्योंकि, कालपाकतः = काललब्धि के आजाने से, भव्यानाम् = भव्य जीवों के, निर्वेगः = वैराग्य, पम्फुलीति = विशेष रूप से प्रगट हो ही जाना है ॥९॥

भावार्थ.—जब भव्यजीवों के आत्मकल्याण का समय (काललब्धि) आजाता है, तब उनके सम्मारिक विषयों से उदासीनता होने लगती है। तदनुमार लोकपाल राजा का सुधार काल भी निकट था जिमसे उमको भी क्षणोत्पन्नविनाशी मेघ को देख वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥ ९ ॥

ततोऽय पुत्रनिक्षिप्त- राज्यभारः क्षितीश्वरः ।
जैनीं दीक्षामुपादत्त, यस्यां कायेऽपि हेयता ॥१०॥

अन्वयार्थौ—ततः = इसके बाद, अयं = यह, क्षितीश्वरः = राजा, पुत्रनिक्षिप्तराज्यभार सन् = पुत्र पर छोड़ दिया है राज्य भार जिसने ऐसा होता हुआ, यस्याम् = जिस दिगम्बर दीक्षा में, काये = शरीर के विषयमें, अपि = भी, हेयता = हेयपना, भवति = होता है, एतम्भूताम = ऐसी. जैनीम् = जिनेन्द्रोक्त, दीक्षाम् = दिगम्बर मुनिदीक्षा को, उपादत्त = ग्रहण करता हुआ ॥१०॥

भावार्थ:—उस लोकपाल राजा ने मेघावलोकन से, विरक्त होकर राज्य तो पुत्र के सुपुर्द करदिया और जिसमें निज शरीर को भी त्याज्य ममझा जाता है ऐसी दिगम्बर जैन मुनिदीक्षा धारण करली॥१०॥

तपासि तप्यमानस्य, तस्य चासीदहो पुनः
व्यो महारोगो, भुक्तं यो भस्मयेत् क्षणात ॥११॥

अन्वयार्थौ—पुनः=फिर, अहो=आश्चर्य की बात है, यत्=कि, तपांसि=तपों को, तप्यमानस्य=तपने वाले, तस्य=उस लोकपाल मुनि के, भस्मकाख्य=भस्मक नामक, महारोगः=राजरोग, आसीत्=होगया, यः=जो, भुक्तम्=खाये हुए को, क्षणात्=क्षणभर में, भस्मयेत्=भस्म कर देता है ॥११॥

भावार्थ:—जब लोकपाल राजा दिगम्बर मुनि होकर तपश्चर्या करने लगा, तब उसको, अन्न को खातेही क्षणमात्र में भस्म कर देने वाला भस्मक नामक महा रोग होगया ॥११॥

न हि वारयितुं शक्यं, दुष्कर्माल्पतपस्यया ।
विस्फुलिङ्गेन किं शक्यं, दग्धुमार्द्रमपीन्धनम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, अल्पतपस्यया=थोड़ी तपश्चर्या से, दुष्कर्म=अतिशय खोटा कर्म वारयितुम्=नष्ट करने के लिये, शक्यम्=समर्थ नहीं होता है, यथा=जैसे, विस्फुलिंगेन=अग्नि की चिनगारी, आर्द्रम=गीला, इन्धनम्=ईंधन, दग्धुम्=जलाने को, शक्यम् किम्=समर्थ हो सकती है क्या ?, अपितु न=किन्तु नहीं ॥१२॥

भावार्थ —जैसे अग्नि की चिनगारी द्वारा गीला ईंधन (लकड़ी छाना आदि) नहीं जलाया जासकता है,किन्तु उसके जलाने के लिये जाज्वल्यमान अग्नि की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार थोड़े तपसे प्रबल खोटा कर्म भी नष्ट नहीं किया जासकता है । किन्तु उसके नष्ट करने के लिये घोर तपकी आवश्यकता होती है । तदनुसार लोकपाल मुनि की थोड़ी तपश्चर्या के द्वारा पूर्वबद्ध महान अशुभ कर्मोदय न रोका जासका, जिससे तप तपते समय भी उसे भस्मक नामक राज रोग हुआ ॥१२॥

अशक्त्यैव तपः सोऽय, राजा राज्यमिवात्यजत् ।
श्रेयांसि वहुविघ्नानी- त्येतन्न ह्यधुनाभवत् ॥१३॥

अन्वयार्थौ—सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह मुनिरूप, राजा = लोकपाल राजा, अशक्त्या = शक्तिके न होने से, एव = ही, राज्यम् इव = राज्यके समान, तपः = तपको, अपि = भी, अत्यजत् = छोडता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, श्रेयांसि = प्रशस्त कार्य, बहु-विघ्नानि = बहुविघ्नयुक्त, भवन्ति = होते है। इति = इस प्रकार, एतत् = यह नियम, अधुना = इस समय, नया न = नहीं, अभवत् = हुआ है। अपितु प्राचीनमेव ॥१३॥

भावार्थ.—भूतपूर्व लोकपाल राजा (मुनि) ने राज्यावस्था में जिस प्रकार राज्य का परित्याग करदिया था, उसी प्रकार भस्मक रोग जनित बाधा के न सह सकने से तप भी छोड़ दिया। क्योंकि "अच्छे कार्यों मे विघ्न बहुत आते हैं" यह नियम अनादि से ही चला आया है। तदनुसार प्रकृत मुनिराज के प्रशस्त कार्यरूप तपश्चर्या में भी भस्मक रोगरूप विघ्न आ उपस्थित हुआ ॥१३॥

तपसाच्छादितस्तिष्ठन्, स्वैराचारी हि पातकी ।
गुल्मेनान्तर्हितोगृह्णन्, विष्करानिव नाफलः ॥१४॥
अवर्तिष्ट यथेष्टं सः, पाखण्डतपसा पुनः ।
चित्र जैनी तपस्या हि, स्वैराचारविरोधिनी ॥१५॥

अन्वयार्थौ—पुनः = फिर, स्वैराचारी = स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला, अतएव, पातकी = पापी, स. = भूतपूर्व लोकपाल राजा, तपसा = तपसे, आच्छादित तिष्ठन् = युक्त होता हुआ, गुल्मेन = झाड़ी से, अन्तर्हित = छिपे हुए, और, विष्करान् =

अन्वयार्थौ—पुनः = फिर, अहो = आश्चर्य की बात है, यत् = कि, तपांसि = तपो को, तप्यमानस्य = तपने वाले, तस्य = उस लोकपाल मुनि के, भस्मकाख्य. = भस्मक नामक, महा-रोग· = राजरोग, आसीत् = होगया, य. = जो, भुक्तम् = खाये हुए को, क्षणात् = क्षणभर में, भस्मयेत् = भस्म कर देता है ॥११॥

भावार्थ.—जब लोकपाल राजा दिगम्बर मुनि होकर तपश्चर्या करने लगा, तब उसको, अन्न को खातेही क्षणमात्र में भस्म कर देने वाला भस्मक नामक महा रोग होगया ॥११॥

न हि वारयितुं शक्यं, दुष्कर्माल्पतपस्यया ।
विस्फुलिङ्गेन किं शक्यं, दग्धुमार्द्रमपीन्धनम् ॥१२॥

अन्वयार्थौ—हि = क्योंकि, अल्पतपस्यया = थोड़ी तपश्चर्या से, दुष्कर्म = अतिशय खोटा कर्म वारयितुम् = नष्ट करने के लिये, शक्यम् = समर्थ नहीं होता है, यथा = जैसे, विस्फुलिंगेन = अग्नि की चिनगारी, आर्द्रम = गीला, इन्धनम् = ईंधन, दग्धुम् = जलाने को, शक्यम् किम् = समर्थ हो सकती है क्या ?, अपितु न = किन्तु नहीं ॥१२॥

भावार्थ—जैसे अग्नि की चिनगारी द्वारा गीला ईंधन (लकड़ी छाना आदि) नहीं जलाया जासकता है, किन्तु उसके जलाने के लिये जाज्वल्यमान अग्नि की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार थोड़े तपसे प्रबल खोटा कर्म भी नष्ट नहीं किया जासकता है। किन्तु उसके नष्ट करने के लिये घोर तपकी आवश्यकता होती है। तदनुसार लोकपाल मुनि की थोड़ी तपश्चर्या के द्वारा पूर्वबद्ध महान अशुभ कर्मोदय न रोका जासका, जिससे तप तपते समय भी उसे भस्मक नामक राज रोग हुआ ॥१२॥

अशक्त्यैव तपः सोऽयं, राजा राज्यमिवात्यजत् ।
श्रेयांसि बहुविघ्नानी- त्येतन्न ह्यधुनाभवत् ॥१३॥

अन्वयार्थौं—सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह मुनिरूप, राजा = लोकपाल राजा, अशक्त्या = शक्तिके न होने से, एव = ही, राज्यम् इव = राज्यके समान, तपः = तपको, अपि = भी, अत्यजत् = छोडता हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, श्रेयांसि = प्रशस्त कार्य, बहु-विघ्नानि = बहुविघ्नयुक्त, भवन्ति = होते हैं। इति = इस प्रकार, एतत् = यह नियम, अधुना = इस समय, नया न = नहीं, अभवत् = हुआ है। अपितु प्राचीनमेव ॥१३॥

भावार्थ.—भूतपूर्व लोकपाल राजा (मुनि) ने राज्यावस्था में जिस प्रकार राज्य का परित्याग करदिया था, उसी प्रकार भस्मक रोग जनित बाधा के न सह सकने से तप भी छोड़ दिया। क्योंकि "अच्छे कार्यों में विघ्न बहुत आते हैं" यह नियम अनादि से ही चला आया है। तदनुसार प्रकृत मुनिराज के प्रशस्त कार्यरूप तपश्चर्या में भी भस्मक रोगरूप विघ्न आ उपस्थित हुआ ॥१३॥

तपसाच्छादितस्तिष्ठन्, स्वैराचारी हि पातकी ।
गुल्मेनान्तर्हितोगृह्णन्, विष्करानिव नाफलः ॥१४॥
अवर्तिष्ट यथेष्टं सः, पाखण्डतपसा पुनः ।
चित्र जैनी तपस्या हि, स्वैराचारविरोधिनी ॥१५॥

अन्वयार्थौं—पुनः = फिर, स्वैराचारी = स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला, अतएव, पातकी = पापी, सः = भूतपूर्व लोकपाल राजा, तपसा = तपसे, आच्छादित तिष्ठन् = युक्त होता हुआ, गुल्मेन = झाड़ी से, अन्तर्हित = छिपे हुए, और, विष्करान् =

पक्षियों को, गृह्णन् = पकड़ने वाले, नाफल., इव = चिड़ीमार के समान, पाखण्डतपसा = मिथ्या तप के द्वारा, यथेष्टम् = इच्छानुसार, अवर्तिष्ट = प्रवृत्ति करने लगा। नीति — हि = क्योंकि, जैनी = जैनधर्मोक्त, तपस्या = तपश्चर्या, स्वैराचारविरोधिनी = इच्छानुसार प्रवृत्ति करने की विरोधक, अस्ति = होती है, इतिचित्रम् = यह आश्चर्य की बात है ॥१४॥१५॥

भावार्थ.—जिस प्रकार कोई चिड़ीमार झाड़ियों में छिपे रहने के कारण पक्षियों को दिखलाई नहीं देता है, किन्तु वहाँ छिपा हुआ भी वह जीव हिंसाविषयक अनेक पापाचार रचता है। इसी प्रकार यह मुनि भी दर्शकों को ढोंगी न दीखता हुआ भी छिपे छिपे अनेक स्वेच्छाचार और पापाचार करता हुआ पाखण्ड युक्त प्रवृत्ति करने लगा और जैन धर्मोक्त दिगम्बर मुनि धर्म में स्वच्छंदता का ढकोसला जरा भी सह्य नहीं हो सकता है, अतएव वह मुनिपद भ्रष्ट उन्मार्गगामी कहलाने लगा ॥ १४ ॥ १५ ॥

अथ भिक्षुः बुभुक्षुः सन्, गन्धोत्कटगृहं गतः ।
उपतापरुजोऽप्येष, धार्मिकाणां भिषक्तमः ॥१६॥

अन्वयार्थौ—अथ = पश्चात, एकदा = एक समय, उपतापरुज = अति दुःखजनक रोग सहित, सन् = होता हुआ, अपि = भी, धार्मिकाणाम् = धर्मात्माओं का, भिषक्तमः = उत्तम चिकित्सक, एष. = यह भिक्षु = मुनि, बुभुक्षु. सन् = भोजन का इच्छुक होता हुआ, गन्धोत्कटगृहम् = गन्धोत्कट सेठ के घर, गतः = गया ॥ १६ ॥

भावार्थ.—भस्मक रोग से पीड़ित, स्वयं भ्रष्ट होकर भी सन्मार्ग प्रदर्शक उपदेश द्वारा भव्य जीवों के संसार रूप रोग को जड़ से

खोने वाले उद्यम वैद्य स्वरूप वह साधु एक दिन भूख से व्याकुल होकर आहारार्थ गन्धोत्कट सेठ के मकान पर गया ॥ १६ ॥

धार्मिकाणां शरण्यं हि, धार्मिका एव नापरे ।
अहेर्नकुलवत्तेषां, प्रकृत्यान्ये हि विद्विषः ॥१७॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, धार्मिकाणाम्= धर्मात्माओं के, शरण्यम्=रक्षक, धार्मिकाः=धर्मात्मा, एव=ही, भवन्ति =होते हैं । अपरे=दूसरे (दुर्जन) न=नहीं । हि=निश्चय से, अन्ये=दूसरे (दुर्जन) अहेः=सर्प के, नकुलवत्=नेवले के सदृश, प्रकृत्या=स्वभाव से, तेषांम्=उन सज्जनों के, विद्विषः=शत्रु, भवन्ति=होते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थः—धर्मात्माओं के सहायक धर्मात्मा ही होते हैं, दुर्जन नहीं। दुर्जन तो, जिस प्रकार नेवला स्वभाव से ही सर्प का वैरी है, उसी प्रकार धर्मात्माओं का स्वाभाविक वैरी होता है। अतएव धर्मात्मा साधु ने भी धर्मात्मा गन्धोत्कट के घर जाना ही उचित समझा ॥ १७ ॥

तत्र मध्येगृहं भिक्षु-रद्राक्षीत्पुत्रपुंगवम् ।
अंग त्वां त्वं च तं वीक्ष्य, तद्बुभुक्षामलक्षयः॥१८॥

अन्वयार्थौ—भिक्षुः=मुनि, तत्र=गन्धोत्कट के मकान पर, मध्येगृहम्=मकान के भीतर, पुत्रपुङ्गवम्=सर्व पुत्रों में श्रेष्ठ, त्वाम्=तुमको, अद्राक्षीत्=देखता हुआ । च=और, अङ्ग=हे वत्स, त्वम्=तुम, तम्=उस मुनि को, वीक्ष्य= देखकर, तद्बुभुक्षाम्=उसकी भूख को, अलक्षयः=परखते हुये ॥ १८ ॥

भावार्थ.—भिक्षु ने गन्धोत्कट सेठ के मकान पर आकर अनेक सहचरों के साथ भीतर तुम्हें देखा और तुमने भी उसे देखते ही उसकी भूख को ताड लिया ॥ १८ ॥

भोक्तुमारभमाणस्त्वं, पौरोगवमचीकथः ।
भोज्यतामयमित्येष, पुनरेनमबूभुजत् ॥१९॥

अन्वयार्थौ--भोक्तुम्=भोजन करने को, आरभमाणः=प्रवृत्त, त्वम्=तुम, अयम्=इस भिक्षु को, भोज्यताम्=भोजन कराओ, इति=इस प्रकार, पौरोगवम्=रसोइये को, अचीकथः=आज्ञा देते हुये और, पुन.=पीछे, एष·=यह रसोइया, एनम्=इस भिक्षु को, अबूभुजत्=भोजन कराता हुआ ॥ १९ ॥

भावार्थः—भोजन करने को प्रवृत्त आपने साधु को भूखा जानकर अपने रसोइये को आज्ञा दी कि इस साधू को भोजन कराओ, तब उसने साधू को सहर्ष भोजन कराना प्रारम्भ किया ॥ १९ ॥

अन्नैस्तद्गृहसम्पन्नै–र्नाभूत्तत्कुक्षिपूरणम् ।
अहो पापस्य घोरत्व–माशाब्धिः केन पूर्यते ॥२०॥

अन्वयार्थौ—तद्गृहसम्पन्नैः=रसोई घर में तैयार हुये, अन्नैः=भोजनों से, तत्कुक्षिपूरणम=साधु के उदर की पूर्ति, न=नहीं, अभूत्=हुई । नीतिः–पापस्य=पाप की, घोरत्वम्=कठोरता, अहो=आश्चर्यजनक, भवति=होती है। च=और, आशाब्धि.=आशारूपी समुद्र, केन=किसके द्वारा, पूर्यते=पूर्ण किया जा सकता है ? किन्तु केनापि न=किसी के द्वारा नहीं ॥ २० ॥

भावार्थः—आशा रूपी समुद्र किसी के द्वारा शान्त नहीं किया जा सकता इस सिद्धान्त—के अनुसार यद्यपि भस्मक रोग से पीड़ित साधु ने तेरे रसोई घर में बना हुआ सारा भोजन सफाचट्ट कर दिया, किन्तु फिर भी उसकी भूख शान्त नहीं हुई। क्योंकि पाप का फल दुर्निवार होता है ॥ २० ॥

अभुञ्जानस्त्वमाश्चर्या–दासीनोऽस्मै वितीर्णवान् ।
कारुण्यादस्य पुण्याद्वा, करस्थं कवलं मुदा ॥२१॥

अन्वयार्थो—अभुञ्जानः = भोजन नहीं करते हुये, च = और, आश्चर्यात् = आश्चर्य से, आसीनः = बैठे हुये, त्वम् = तुम, कारुण्यात् = दया से, वा = अथवा, अस्य = इस साधु के, पुण्यात् = पुण्य से, अस्मै = इसके लिये, करस्थ = अपने हाथ पर रखे हुये, कवल = ग्रास को, मुदा = हर्ष से, वितीर्णवान् = देते हुये ॥ २१ ॥

भावार्थः—भोजनालय के समस्त भोज्य पदार्थों के खा चुकने पर भी जब भिक्षु की भूख शान्त न हो सकी, तब स्वयं भूखे और आश्चर्यान्वित तुमने करुणा से अथवा इसके पुण्य से प्रेरित हो अपने हाथ में स्थित ग्रास को सहर्ष उस संन्यासी को दिया ॥ २१ ॥

वर्णिनो जठरं पूर्ण–तदास्वादनतः क्षणात् ।
आशाब्धिरिव नैराश्या–दहो पुण्यस्य वैभवम् ॥२२॥

अन्वयार्थो—तदास्वादनतः = उस ग्रास के चखने मात्र से, नैराश्यात् = निराशपने से, आशाब्धि. इव = आशारूपी समुद्र के समान, वर्णिन. = संन्यासी का, जठरम् = उदर, पूर्णम् = पूर्ण, बभूव = हो गया। नीतिः—पुण्यस्य = पुण्य का, वैभवम् = वैभव, अहो = आश्चर्यजनक, भवति = होता है ॥ २२ ॥

भावार्थः—पुण्य की लीला अपार है। अतएव जब सन्यासी के पुण्य का उदय हुआ, तो उस महारोग के शान्त होते में क्षणमात्र भी देर न हुई और जैसे एक बार पूर्ण विषयाभिलाषा का परित्याग कर देने से कृतकृत्यता की प्राप्ति होने पर महान् सतोष (अनन्त) सुख या विषयाशाभाव हो जाता है। उसी प्रकार गृहनिष्पन्न समस्त अन्न के खा लेने पर भी पूर्ण नहीं हुई, सन्यासी की भोजनेच्छा तेरे द्वारा दिये गए एक ग्रास के चखने मात्र से पूर्ण होगई।

परिव्राडपि सम्प्राप्य, सौहित्यं तत्क्षणे चिरात्।
महोपकारिणोऽस्याहं, किं करोमीत्यचिन्तयत् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—परिव्राट्=सन्यासी, अपि=भी, चिरात्=चिरकाल से, तत्क्षणे=उसी समय, सौहित्य=रोगनिवृत्ति को, सम्प्राप्य=प्राप्त करके, महोपकारिणः=महान् उपकारी, अस्य=इस जीवन्धर का, अहम्=मैं, किम्=क्या प्रतीकार, करोमि=करूँ, इति=इस प्रकार, अचिन्तयत्=विचार करता हुआ॥ ॥२॥

भावार्थ—अनेक उपाय करने पर भी न होने वाली रोग-निवृत्ति को तेरे द्वारा प्रदत्त ग्रास मात्र के आस्वादन से प्राप्त कर उस साधुने, इस महारोगनाशक उपकारी का मैं क्या प्रतिकार करूँ इस प्रकार विचार किया ॥२३॥

अपाश्चिमफलां विद्यां, निश्चित्यात्र प्रतिक्रियाम्।
आयुष्मन्तसौ पश्चाद्- विपाश्चितमकल्पयत् ॥२४॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्=पीछे असौ=यह सन्यासी, अत्र=प्रकृत उपकार के विषय में, अपाश्चिमफलाम्=उत्तम फलदायक, विद्याम्=विद्यादान को,प्रतिक्रियाम्=प्रत्युपकार स्वरूप, निश्चित्य=

निश्चित करके, आयुष्मन्तम्=दीर्घायु आपको, विपश्चितम्=विद्वान्, अकल्पयत्=बनाता हुआ ॥२४॥

भावार्थ—पश्चात् उस सन्यासी ने विचार कर तुम्हारे प्रत्युपकारार्थ उत्तम फलदायक विद्या पढ़ाना निश्चित किया और तदनुसार पढ़ा लिखाकर तुम्हें उद्भट विद्वान भी बनाया ॥२४॥

विद्या हि विद्यमानेयं, वितीर्णापि प्रकृष्यते ।

न कृष्यते च चोराद्यैः, पुष्यत्येव मनीषितम् ॥२५॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, विद्यमाना=मौजूद । इयम्=यह विद्या=विद्या, वितीर्णा सती=अन्य को दी गई, अपि=भी, प्रकृष्यते एव=बढ़ती ही जाती है, च=और, चोराद्यैः=चोर और बन्धु आदि के द्वारा, न कृष्यते=नहीं छुड़ाई जा सकती है । तथा, मनीषितम्=इच्छित कार्य को, पुष्यति एव=पूर्ण करती ही है ॥२५॥

भावार्थ—विद्याधन का प्रभाव ही अचिन्त्य है । इसके व्यय करने पर वृद्धि ही होती है, चोर और बन्धु आदि द्वारा यह छीनी भी नहीं जा सकती है और इच्छापूर्ति करने में भी यह रामबाण के समान है ॥२५॥

वैदुष्येण हि वंश्यत्वं—वैभवं सदुपास्यता ।

सदस्यतालमुक्तेन, विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥२६॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, वैदुष्येण = विद्वत्ता से, वंश्यत्वम्=कुलीनता, वैभवम्=सम्पत्ति, सदुपास्यता=महाजनों द्वारा मान्यता, च=और, सदस्यता=सभ्यता, प्राप्नोति=प्राप्त होती है, च=और, उक्तेन=कहने से, अलम्=बस, किन्तु,

विद्वान्=पण्डित, सर्वत्र= सब जगह, पूज्यते=पूजा जाता है ॥-६॥

भावार्थ—विद्वत्ता से मनुष्य को कुलीनता, धन-सम्पत्ति, मान्यता और सभ्यता आदि ही नहीं प्राप्त होते हैं, बल्कि जगह-जगह आदर भी प्राप्त होता है ॥२६॥

वैपश्चित्यं हि जीवाना-माजीवितमनिन्दितम् ।
अपवर्गेऽपि मार्गोऽय-मदःक्षीरमिवौषधम् ॥२७॥

अन्वयार्थौ—हि=क्योंकि, वैपश्चित्यम्=विद्वत्ता, जीवानाम्=प्राणियों के, आजीवितम्=जीवनपर्यंत, अनिन्दितम्=प्रशंसनीय, भवति=होती है, च=और, अयम्=यह पाण्डित्य, औषधम्=दवाई स्वरूप, क्षीरम् इव=दुग्ध के समान, अपवर्गे=मोक्ष के विषय में, अपि=भी, मार्गः=मार्गस्वरूप, अस्ति=है ॥२ ॥

भावार्थ—विद्वत्ता मनुष्य के जीवनपर्यंत प्रतिष्ठाजनक होती है और जिस प्रकार दूध पौष्टिक होने के साथ-साथ औषधिस्वरूप भी है, इसी प्रकार विद्वत्ता भी लौकिक प्रयोजनसाधक होती हुई मोक्ष का कारण भी होती है। इसी लिये उस सन्यासी ने विद्वान बनाना ही सर्वोत्तम समझ आपको विद्वान बनाया ॥२७॥

इत्युदन्त गुरोःश्रुत्वा, शिष्यो नोत्तरमूचिवान् ।
स्ववाचा किन्तु वक्त्रेण, शैष्योपाध्यायिका हि सा ॥२८॥

अन्वयार्थौ—शिष्यः=विद्यार्थी जीवन्धर, गुरोः=गुरु आर्यनन्दी के, इति=पूर्वोक्त, उदन्तम्=वृत्तान्त को, श्रुत्वा=सुनकर, स्ववाचा=अपने वचन से, उत्तरम्=उत्तर को, न

ऊचिवान् = नहीं देता हुआ, किन्तु, वक्त्रेण = मुख की चेष्टा से, एव = ही, उत्तरम्, ऊचिवान् = उत्तर देता हुआ, । नीतिः—हि = क्योंकि, सा = वह, एव = ही, शैष्योपाध्यायिका = वास्तविक शिष्य और गुरुपना, अस्ति = है ॥२८॥

भावार्थ—विनयी शिष्य का अपने गुरु के समीप सभ्यता मे वर्ताव करना ही आदरणीय गुरु-शिष्यपना है। जीवन्धर ने भी ६-२८ श्लोकांत गुरुवर के पूर्व वृत्तान्त को सुन अपना एक ओंठ भी न हिलाया। किन्तु मुख के विकास से अपनी हार्दिक प्रसन्नता जाहिर कर अपने सुशिष्यत्व और गुरु के मात्र गुरुत्व का परिचय दे ही दिया ॥२८॥

विज्ञातगुरुशुद्धिः सः, विशेषात्पिप्रियेतराम् ।
माणिक्यस्य हि लब्धस्य, शुद्धेर्मोदो विशेषतः ॥२९॥

अन्वयार्थौ—विज्ञातगुरुशुद्धिः = जानली है गुरु की उत्तमता जिसने ऐसा, स = वह जीवन्धर, विशेषात् = विशेष रूप से, पिप्रियेतराम् = अत्यन्त प्रसन्न हुआ। नीतिः-हि = क्योंकि, लब्धस्य = प्राप्त हुये, मणिक्यस्य = मोती के, शुद्धेः = उत्तमता के निर्णय से, विशेषतः = विशेष रीति से, मोदः = हर्ष, भवति = होता है ॥२९॥

भावार्थ—मनुष्य को किसी मणि के मिल जाने मात्र से ही खुशी हुआ करती है, और जब उसकी पूर्ण अच्छाई का परिज्ञान हो जाता है, तब तो उसेकी खुशी का पार ही नहीं रहता है। उसी प्रकार गुरु का होना ही आनन्दप्रद होता है। किन्तु उसकी उत्तमता के निर्णीत हो जाने पर तो आनन्द का कहना ही क्या है। तदनुसार स्वगुरु की पवित्रता का श्रवण कर जीवन्धर के हर्ष का भी ठिकाना न रहा ॥२९॥

रत्नत्रयविशुद्धः सन्, पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि, भवाब्धेस्तारको गुरुः ॥ ३० ॥

अन्वयार्थौ—यः = जो, रत्नत्रयविशुद्ध = रत्नत्रय से परिपूर्ण, सन् = सज्जन, पात्रस्नेही = योग्यशिष्य पर प्रेम करने वाला, परार्थकृत = परोपकारी, परिपालितधर्म = धर्मपालक, च = और, भवाब्धेः = संसार रूपी समुद्र से, तारकः = पार लगाने वाला, भवति = होता है, हि = निश्चय से, सः = वह, एव = ही, गुरुः = उत्तम अध्यापक, भवेत् = कहला सकता है ॥३०॥

भावार्थ.—जो रत्नत्रय का धारक, सज्जन, पात्रप्रेमी, परोपकारी, धर्मरक्षक और जगतारक है, वही यथार्थगुरु हो सकता है। किन्तु जिसमें उक्त गुण नहीं, वह यथार्थगुरु कहलाने का अधिकारी नहीं होसकता है॥३०

गुरुभक्तो भवाद्भीतो, विनीतो धार्मिकः सुधीः।
शान्तस्वान्तो ह्यतंद्रालुः, शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ॥३१॥

अन्वयार्थौ—य. = जो, गुरुभक्तः = गुरु का भक्त, भवात् = संसार से, भीत. = भयभीत, विनीतः = विनयी, धार्मिक = धर्मात्मा, सुधी = कुशाग्रबुद्धि, शान्तस्वान्तः = शान्तपरिणामी, अतन्द्रालु = आलस्यरहित, च = और, शिष्टः = सभ्य, भवति = होता है, हि = निश्चय से, अयम् = यह, शिष्य. = उत्तम शिष्य, इष्यते = कहलाता है ॥ ३१ ॥

भावार्थ.—जो गुरुभक्त, संसार से भीत, विनयी, धर्मात्मा, कुशाग्रबुद्धि, शान्तपरिणामी, आलस्यहीन और सभ्य हो, वही शिष्य वास्तविक शिष्य कहलाने के योग्य है ॥ ३१ ॥

गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै, क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।
त्रिलोकीमूल्यरत्नेन, दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थौ—सती = उत्तम, गुरुभक्तिः = गुरुभक्ति, मुक्त्यै = मुक्तिप्राप्ति के अर्थ, भवति = होती है, वा = तो, क्षुद्रम् = तुच्छ, किम् = किस वस्तु को, न साधयेत् = सिद्ध न करेगी, किन्तु, सर्वं साधयेत् = सर्व वस्तु और कार्यों को सिद्ध करा सकती है। यतः = क्योंकि, त्रिलोकीमूल्यरत्नेन = तीन लोक ही हैं कीमत जिसके ऐसे रत्न से, तुषोत्कर = भूसे का ढेर, दुर्लभ = अप्राप्य, भवति किम् = हो सकता है क्या? । अपितु न = किन्तु नहीं॥३२॥

भावार्थ:—जिस प्रकार बहुमूल्य रत्न से भूसे का ढेर खरीद सकना नाकुछ बात है, उसी प्रकार निष्कपट भाव से विहित गुरुभक्ति से भी जब परम्परया मुक्ति तक प्राप्त हो सकती है, तो अन्य लौकिक कार्यों की पूर्ति होना तो नाकुछ बात है॥ ३२ ॥

गुरुद्रुहां गुणः को वा, कृतघ्नानां न नश्यति ।
विद्यापि विद्युदाभा स्या—दमूलस्य कुतः स्थितिः ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थौ—गुरुद्रुहाम् = गुरु के साथ द्रोह करने वाले, कृतघ्नानाम् = उपकार को न मानने वालों का, कः = कौन कौन, गुणः = गुण, न नश्यति = नष्ट नहीं हो जाते हैं। किन्तु, सर्वेगुणा नश्यति = सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। तेषां = उनकी, विद्या = विद्या, अपि = भी, विद्युदाभा = बिजली के समान क्षणस्थायी, स्यात् = हो जाती है। यतः = क्योंकि, अमूलस्य = बिना जड़ के, स्थितिः = वस्तु की स्थिरता, कुतः = कहाँ से, संभवति = हो सकती है॥ ३३ ॥

भावार्थः—गुरुओं के उपकार को न मान उनसे द्रोह करने वाले मनुष्यों के सब गुणों पर पानी फिर जाता है और जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष आदि की सत्ता नहीं रह सकती है, उसी प्रकार उपकारस्मृति और

विनय या गुरुभक्ति रूप जड़ विना विद्यारूपी वृक्ष भी बिजली के समान क्षणमात्र रहकर शुष्क होजाता है ॥ ३३ ॥

गुरुद्रुहो न हि क्वापि, विश्वास्या विश्व घातिनः।
अविभ्यतां गुरुद्रोहा — दन्यद्रोहात्कुतो भयम् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थौ—गुरुद्रुहः = गुरुद्रोही, अतएव, विश्वघातिनः = सब जगत् या सर्व मनुष्यों के साथ द्रोह कर सकने वाले जन, क्व = कहीं पर, अपि = भी, न विश्वास्या = विश्वास करने योग्य नहीं होते हैं। हि = क्योंकि, गुरुद्रोहात् = गुरु-द्रोह से, अविभ्यताम् = नहीं डरने वाले पुरुषों के, अन्यद्रोहात् = दूसरों के साथ द्रोह करने से, भयम् = भय, कुतः कहां से, सम्भवति = सम्भव हो सकता है? ॥३४॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्यादान द्वारा ऐहिक और पारलौकिक जीवन को सफल करने वाले गुरु के साथ भी अनुचित व्यवहार करते नहीं लजाता है, वह अन्य जनों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करने से तो लज्जित होगा ही क्यों?। अतएव गुरुद्रोही किसी के भी विश्वास करने योग्य नहीं होता है ॥ ३४ ॥

अथ कृत्यविदाचार्यः, कृतकृत्य यथाविधि।
छात्रं प्रबोधयामास, सद्धर्मं गृहमेधिनाम् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, कृत्यवित् = कर्तव्य का जानकार, आचार्यः = गुरु आर्यनन्दी, कृतकृत्यम् = पालन किया है शेष कर्तव्य जिसने ऐसे, छात्रम् = विद्यार्थी जीवन्धर को, गृहमेधिनाम् = गृहस्थों के, सद्धर्मम् = प्रशस्त धर्म को, यथाविधि = आर्ष मार्ग से, प्रबोधयामास = समझाता हुआ ॥ ३५ ॥

भावार्थ.—अपनी जीवन कहानी और विद्यार्थी कर्त्तव्य के उपदेश के पश्चात् कर्त्तव्य-कुशल आचार्य आर्यनन्दी ने शेप सर्व विद्या-कुशल जीवन्धर को गृहस्थधर्म (आचारशास्त्रादि) का पाठ पढ़ाया ॥ ३५ ॥

पुनश्च राजपुत्रत्व – मपि वोधयितुं गुरुः ।
अनुगृह्याभ्यधात्तस्य, तदुदन्तममिदंतया ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थौ—च = और, पुनः = पीछे, गुरुः = आर्यनन्दी, तस्य = जीवन्धर के, राजपुत्रत्वम् = राजपुत्रपने को, अपि = भी वोधयितुम् = ज्ञान कराने के लिये, तदुदन्तम् = राजपुत्रत्व के सूचक सर्व वृतान्त को, अनुगृह्य = कृपा करके. इदंतया यथावत्. अभ्यधात् = कहते हुये ॥ ३६ ॥

भावार्थ·—सागारधर्म की शिक्षा देने के बाद गुरु आर्यनन्दी ने विना किसी प्रेरणा के जीवन्धर के राजपुत्रत्वसूचक समाचार को क्रमशः आद्योपान्त कह सुनाया ॥ ३६ ॥

काण्ठागारमसौ ज्ञात्वा, राजघ गुरुवाक्यतः ।
सत्यन्धरात्मजः क्रोधात्, संन्नाहं तद्वधे व्यधात् ॥३७॥

अन्वयार्थौ—असौ = यह, सत्यधरात्मजः = सत्यधर राजा का पुत्र जीवन्धर, गुरुवाक्यतः = गुरु के वचन से, काष्ठागारम् = काष्ठाङ्गार को, राजघम् = राजा का मारने वाला, ज्ञात्वा = जान कर, क्रोधात् = क्रोध से, तद्वधे = उस काष्ठांगार के मारने के विषय में, सन्नाहम् = तैय्यारी को, व्यधात् = करता हुआ ॥३७॥

भावार्थ.—गुरुदेव के वचन से काण्ठागार को अपने पिता सत्यन्धर का प्राणघातक जानकर जीवन्धर क्रोधित होकर काण्ठागार को मारने की तैयारी करने लगा ॥ ३७ ॥

मुहुर्निवार्यमाणोऽपि, सूरिणा न शशाम सः ।

हन्तात्मानपि घ्नन्तः, क्रुद्धाः किं किं न कुर्वते ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थौ—हन्त = यह खेद की बात है, कि, सूरिणा = गुरु के द्वारा, मुहुः = बार बार, निवार्यमाण = रोका जाने वाला, अपि = भी, स = वह जीवन्धर, न शशाम = शान्त नहीं हुआ । यत = क्योकि, आत्मानम् = अपने आप को, अपि = भी, घ्नन्तः = नष्ट करने वाले, क्रुद्धा = क्रोधी जन, किं किम् = क्या क्या दुष्कर्म, न कुर्वते = नहीं कर डालते हैं ? ॥ ३८ ॥

भावार्थ.—काष्ठागार को मारने में उद्यत जीवन्धर कुमार ने गुरु-द्वारा अनेक बार रोके जाने पर भी अपना दुराग्रह न छोड़ा । बड़े खेद की बात है कि क्रोधी मनुष्य जब आत्मघात करने तक को तैयार रहते हैं तब और दुष्कर्म करते तो डरेंगे ही क्या ? ॥ ३८ ॥

वत्सरं क्षम्यतामेक, वत्सेय गुरु-दक्षिणा ।

गुरुणेति निषिद्धोऽभूत्, कोऽनन्धो लङ्घयेद्गुरुम् ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थौ—जीवन्धर, वत्स ! = हे तात, एकम् = एक, वत्सरम् = वर्ष तक, क्षम्यताम् = क्षमा करो, इयम् = यह, गुरु दक्षिणा = पढ़ने के बाद दी जाने वाली गुरुदक्षिणा, भविष्यति = होगी, इति = इस प्रकार विवशता से, निषिद्धः अभूत = युद्ध से, रोका गया । नीतिः—हि = क्यों कि, कः = कौन, अनन्ध = ज्ञानवान् (अनेक संशयोच्छेदीत्याद्यनुसारेण) गुरुम् = गुरु को. लङ्घयेत् = अपमानित करेगा, किन्तु, कोऽपि न = कोई भी नहीं॥३९॥

भावार्थ—जब जीवन्धर ने क्रोध वश गुरु का कहना न माना, तब 'हे वत्स ! एक वर्ष तक युद्ध न करो, यही गुरुदक्षिणा है' ऐसा कह विवश कर गुरुने उसे युद्धसे रोक दिया । और वह भी गुरुदेव की आज्ञा को मान गया, क्यों कि समझदार लोग गुरु की अवहेलना कभी नहीं करते है ॥३९॥

पश्यन्कोपक्षणे तस्य, पारवश्यमसौ गुरुः ।

अशिक्षयत्पुनश्चैन – मपथघ्नी हि वाग्गुरोः ॥ ४० ॥

अन्वयार्थौ—असौ = यह, गुरु. = आर्यनंदी गुरु, कोपक्षणे = क्रोध के समय में, तस्य = उस जीवन्धर की, पारवश्यम = पराधीनता को, पश्यन = देखता हुआ, एनम् = इस जीवन्धर को. पुन. = फिर, अशिक्षयन् = शिक्षा देता हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, गुरोः = गुरु की, वाक् = वाणी अपथघ्नी = खोटे मार्ग का नाश करने वाली, भवति = होती है ॥४०॥

भावार्थः—आर्यनन्दी गुरु ने, काष्ठागार पर क्रोध करते समय जीवन्धर को क्रोध के विवश और कर्तव्यविमूढ़ देखकर निम्न प्रकार शिक्षा और भी दी ॥ ४० ॥

अवशः किमहो मोहा – दकुपः पुत्रपुङ्गव ! ।

सति हेतौ विकारस्य, तदभावो हि धीरता ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थौ—पुत्रपुङ्गव ! = हे पुत्रोत्तम ! त्वम् = तुम, मोहात् = मोह से, अवश सन् = विवश होते हुए, किम् = क्यों, अकुप = क्रोधित होते थे ? । नीतिः—हि = क्योंकि, विकारस्य = क्रोधादिक विकार के, हेतौ सति = कारण के उपस्थित होने पर, अपि = भी, तदभाव. = विकार का न होना, धीरता = धीरपन, कथ्यते = कहलाता ॥ ४१ ॥

भावार्थ.—आर्यनन्दी महाराज जीवन्धर को समझाते हैं कि हे पुत्र ! राग, द्वेष और क्रोधादिक वैभाविक भावों के कारणों के उपस्थित होने पर भी रागी, द्वेषी और क्रोधी आदि नहीं होना ही मनुष्य की धीरता है, फिर तुम इस प्रकार मोहित हो क्रोध के वशीभूत होकर विवेक को जलाञ्जलि क्यों देते हो ॥ ४१ ॥

अपकुर्वति कोपश्चेत्, किन्न कोपाय कुप्यसि।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य, जीवितस्य च नाशिने ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थौ—चेत्=यदि, अपकुर्वति=अपकार करने वाले मनुष्य पर, ते=तुम्हारा, कोप.=क्रोध, अस्ति=है, तर्हि=तो, त्रिवर्गस्य=धर्म, अर्थ और काम के, च=और, अपवर्गस्य=मोक्ष के, नाशिने=नाशक, कोपाय=क्रोध के लिये, किम्=क्यों, न कुप्यसि=क्रोधित नहीं होते हो ॥४२॥

भावार्थ.—और यदि अपकार करने वाले पर ही तुम क्रोध करते हो, तो जिस प्रकार तुम्हारा पितृवध और राज्यहरण रूप अपकारी काष्ठांगार है, उसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय का मटिया-मेट करने रूप तेरा अपकारी तेरा क्रोध भी तो है। इसलिये अपकारी काष्ठां-गार से भी महान अपकारी निजी क्रोध पर ही क्रोध कर पहिले क्रोध का ही संहार क्यों नहीं कर डालता है ? ॥ ४२ ॥

दहेत्स्वमेव रोषाग्नि, नांपरं विषयं ततः।
क्रुध्यन्निक्षिपति स्वाङ्गे, वह्निमन्यादिधिक्षया ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थौ–रोषाग्निः=क्रोध रूपी अग्नि, स्वम्=अपने आपको, एव=ही, दहेत्=जलाती है, अपरम्=दूसरे, विषयम्=पदार्थ को, न=नहीं। ततः=इस लिये, क्रुध्यन्=क्रोध करता हुआ पुरुष, अन्यदिधिक्षया=दूसरे को जलाने की इच्छा से, स्वांगे=अपने शरीर पर, एव=ही, वह्निम्=अग्नि को, निक्षिपति=फेंकता है ॥४३॥

भावार्थः—क्रोध करने से दूसरे की हानि हो या न हो, पर क्रोध-कर्त्ता के ज्ञान दर्शनादि रूप निजी स्वभाव का घात तो होता ही है,

अतएव क्रोधी का क्रोध करना दूसरे को जलाने की इच्छा से (फेंकने के पहिले अपने को ही जला देने वाले) अंगार को अपने हाथ से उठा कर फेकने के समान पहिले क्रोधी के ही हानिकारक होता है ॥ ४३ ॥

हेयोपादेयविज्ञान, नो चेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ ।
किं व्रीहिखण्डनायासै – स्तण्डुलानामसंभवे ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थौ--चेत्=यदि, हेयोपादेयविज्ञानम्=कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का विवेक, नो=नहीं, स्यात्=हो, तर्हि=तो, श्रुतौ=शास्त्र के विषय में, श्रम =परिश्रम करना, व्यर्थ =बेकार, अस्ति =है, । नीति —यत =क्योंकि, तण्डुलानाम्=चांवलों के. असम्भवे=असम्भव होने पर, व्रीहिखण्डनायासै.=धान्य के कूटने के परिश्रमों से, किम्=क्या फायदा, भवति= हो सकता है ॥ ४४ ॥

भावार्थ —जिस प्रकार धान्य के कूटने रूप परिश्रम का फल केवल चावलों का निकलना ही है; किन्तु चावलों के निकलने की सम्भावना न होने पर धान्य का कूटना व्यर्थ ही है, उसी प्रकार विद्या पढ़ने का फल हेयोपादेय का परिज्ञान होना ही है, किन्तु पढ़ लिख कर भी यदि हेयोपादेय का ज्ञान न हो, तो विद्याभ्यास करना विफल ही समझना चाहिये ॥४४॥

तत्त्वज्ञानं च मोघं स्यात् , तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम् ।
पाणौ कृतेन दीपेन, किं कूपे पततां फलम् ॥४५॥

अन्वयार्थौ--तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम्=तत्वज्ञान के विपरीत प्रवृत्ति करने वाले पुरुषों के, तत्त्वज्ञानम्=तत्त्वज्ञान, अपि=भी, मोघम्=विफल, स्यात्=होजाता है। यथा=जैसे, कूपे=कुएँमें,

पतताम् = गिरते हुये मनुष्यो के, पाणौ = हाथ में, कृतेन = रक्खे हुये, दीपेन = दीपक से, किम् = क्या, फलम् = फल, अस्ति = है ? अर्थात्, किमपि न = कुछ भी नहीं ॥४५॥

भावार्थ — जिस प्रकार अपने हाथ में प्रज्वलित दीपक रख कर भी कुएँ में गिरने वाले का दीपक लेना व्यर्थ ही है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान को पाकर भी हेयोपादेयविज्ञान रहित यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करने वाले का तत्त्वज्ञान पाना भी व्यर्थ ही है ॥४५॥

तत्त्वज्ञानानुकूलं त—दनुष्ठातुं त्वमर्हसि ।
मुषितं धीधनं न स्याद्, यथा मोहादिदस्युभिः ॥४६॥

अन्वयार्थौ—तत = इसलिये, त्वम् = तुम, तत्त्वज्ञानानुकूलं यथा स्यात्तथा = तत्त्वज्ञान के अनुसार, अनुष्ठातुम् = प्रवृत्ति करने के लिये, अर्हसि = योग्य हो, यथा = जिससे, मोहादिदस्युभि. = मोह आदिक चोरों के द्वारा, ते = तुम्हारा, धीधनम् = बुद्धि रूपी धन, मुषितम् = चुराया, न स्यात = न जावे ॥४६॥

भावार्थ — उपर्युक्त बातों को जानकर तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम अपनी सारी दैनिक प्रवृत्तियाँ शास्त्रानुकूल ही करो, जिससे कि मोह, क्रोध, काम, मात्सर्य आदि रूप वास्तविक चोरों द्वारा तुम्हारे तत्त्वज्ञान की तात्त्विकता नष्ट न की जावे ॥४६॥

स्त्रीमुखेन कृतद्वारान्, स्वपथोत्सुकमानसान् ।
दुर्जनाहीञ्जहीहि त्वं, ते हि सर्वंकषाः खलाः ॥४७॥

अन्वयार्थौ—च = और, त्वम् = तुम, स्त्रीमुखेन = स्त्रियों के द्वारा, कृतद्वारान् = आने वाले, और, स्वपथोत्सुकमानसान् =

स्वकीय कुपथ पर चलने चलाने मे ही उत्कण्ठित मन वाले,दुर्जना-हीन्=दुर्जन रूपी सर्पों को, जहीहि=छोड़ दे। हि=क्योंकि, ते=वे, खला.=दुर्जन,सर्वकषा =सब का सत्यानाश करने वाले, भवन्ति=होते हैं ॥४७॥

भावार्थः—जार, लुच्चे, जुआरी, चोर तथा बेईमान आदि दुष्ट पुरुषों की संगति से भी तुझे सदा दूर रहना चाहिये, क्यो कि वे सर्व-सत्यानाशी स्त्रियों के जरिये आने वाले, खोटे कार्यों में प्रवृत्ति करने कराने वाले और अतिशय क्रूर सर्प के समान प्राणघातक होते हैं ॥४७॥

स्पृष्टानामहिभिर्नश्येद्-गात्रं खलजनेन तु ।
वंशवैभववैदुष्य – क्षान्तिकीर्त्यादिकं क्षणात् ॥४८॥

अन्वयार्थौ—अहिभिः=सर्पों के द्वारा, स्पृष्टानाम्=डसे हुये, प्राणिनाम्=प्राणियों का, गात्रम्=शरीर, एव=ही, नश्येत् =नष्ट होता है। तु=किन्तु, खलजनेन=दुष्ट पुरुषों से स्पृष्टानाम् =सम्बन्ध रखने वालो के, वंशवैभववैदुष्यक्षान्तिकीर्त्यादिकम्= कुल, सम्पत्ति, विद्वत्ता, क्षमा और यश आदि सब, क्षणात्= क्षण मात्र में, नश्येत्=नष्ट हो जाते है ॥४८॥

भावार्थ--जिस प्राणी को सर्प डसता है, उसका कदाचित् यदि मरण हुआ, तो शरीर ही नष्ट होता है, किन्तु जिसे दुर्जन डसता है (सम्बन्ध करता है), उसका कुल, धन-दौलत, पाण्डित्य, क्षमा और कीर्ति आदि पर थोडे ही समय में पानी फिर जाता है ॥४८॥

खलः कुर्यात्खलं लोक – मन्यमन्यो न कंचन ।
न हि शक्यं पदार्थानां, भावनं च विनाशवत् ॥४९॥

अन्वयार्थौ—खल. = दुर्जन पुरुष, लोकम् = दूसरे मनुष्य को, खलम् = दुर्जन, कुर्यात् = कर देता है। किन्तु, अन्यः = दूसरा (सज्जन), कचन = किसी को, अन्यम् = दूसरा (सज्जन), न = नहीं, कुर्यात् = कर पाता है। हि = क्योंकि, पदार्थानाम् = वस्तुओं के, विनाशवत् = नाश के समान, भावनम् = पैदा करना, न शक्यम् = सम्भव नही है ॥४६॥

भावार्थः—जिम प्रकार मकान, जेवर आदि पदार्थों का नाश कर देना तो बिलकुल सरल बात है, किन्तु नूतन तैयार कर देना अतिशय दुःसाध्य है, उसी प्रकार दुर्जन पुरुष अन्य मनुष्य को दुर्जन तो आसानी से बना लेता है, किन्तु सज्जन दूसरे जन को सज्जन बड़ी मुश्किल से ही बना पाता है ॥४६॥

सज्जनास्तु सतां पूर्वं, समावर्ज्याः प्रयत्नतः ।
किं लोके लोष्टवत्प्राप्यं, श्लाघ्यं रत्नमयत्नतः ॥५०॥

अन्वयार्थौ—तु = इसलिये, पूर्वम = पहिले, सज्जनाः = सज्जन पुरुष, एव = ही, प्रयत्नत = प्रयत्न से, सताम् = सज्जनों के, समावर्ज्या. = आदरणीय हैं। यत = क्योंकि, लोके = संसार मे, श्लाघ्य = प्रशस्त, रत्नम् = रत्न, लोष्टवत् = पत्थर के ढेले के समान, अयत्नतः = बिना प्रयत्न से, प्राप्यम् किम् = प्राप्त हो सकता है क्या ? किन्तु, न = नहीं ॥५०॥

भावार्थः—जिस प्रकार संसार में क्षुद्र मणि और काँच का मिलना तो सरल है, किन्तु अमूल्य और प्रशस्त रत्न का मिलना महा दुर्लभ है, उसी प्रकार कुमार्ग पर प्रवृत्त कराने वाले दुर्जन तो बात की बात में प्राप्त हो सकते हैं; किन्तु परमोपकारी और सन्मार्गदर्शक सज्जन

का समागम होना अतिशय दु:साध्य ही है, इसलिये आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है कि दुर्जनों के चंगुल में फँसने के पहले ही सावधान होकर सज्जनों का समागम प्राप्त करें ॥५०॥

जाग्रत्त्वं सौमनस्यं च, कुर्यात्सद्वागलं परैः ।
अजलाशयसम्भूत – ममृतं हि सतां वचः ॥५१॥

अन्वयार्थौ—सद्वाक्=सज्जनों के वचन, जाग्रत्त्वम्=शाश्वतिक सावधानता को, च=और, सौमनस्यम्=मन की पवित्रता को, कुर्यात्=करता है, च=और, परैः=और बातों से, अलम्=बस । हि=निश्चय से सताम्=सज्जनों का, वचः=वचन, अजलाशयसम्भूतम्=जलाशयसे उत्पन्न नहीं हुये, अमृतम्=अमृत के समान, भवति=होता है ॥५१॥

भावार्थः—जिस प्रकार अमृत जाग्रत्त्व (सजीवत्व) और सौमनस्य (देवत्व) को करता है, उसी प्रकार सज्जनों का वचन भी जाग्रत्त्व (सावधानता) और सौमनस्य (विद्वत्ता, उत्तम विचार या सज्जनता) को करता है, किन्तु दोनों में विशेषता यह है कि अमृत तो जलाशय से उत्पन्न हुआ है, किन्तु सद्वचनामृत जलाशय (डलयोरभेदात् जडाशय 'दुष्टाभिप्राय') से उत्पन्न नहीं हुआ है, अतएव सद्वचनामृत अमृत से भी उत्तम और ग्राह्य है ॥५१॥

यौवनं सत्वमैश्वर्य – मेकैकं च विकारकृत् ।
समवायो न किं कुर्या – दविकारोऽस्तुतैरपि ॥५२॥

अन्वयार्थौ—यदा=जब, यौवन=जवानी, सत्वम्=बल, च=और, ऐश्वर्यम्=सम्पत्ति, एकैकम्=एक एक, अपि=भी,

विकारकृत्=वैभाविक भावोत्पादक या कुमार्ग प्रवर्तक, भवति=होता है, तदा=तब फिर, समवायः=तीनों का समूह, किम्=क्या, न कुर्यात्=नहीं कर सकता है। सर्वं कुर्यादितिभावः तु=इसलिये तैः=उन तीनों से, एव=ही, ते=तेरे, अविकारः=विकाराभाव, अस्तु=हो ॥५२॥

भावार्थः—जब कि जवानी, शारीरिक बल और धनाढ्यता पृथक पृथक् होकर भी अभिमान और रागद्वेषादि विभावोत्पादक तथा अन्यायादि में प्रवर्तक होते हैं, तो फिर जिस व्यक्ति में तीनो ही एक साथ हों, उसके अभिमानादिक का तो कहना ही क्या है? ॥५२॥

न हि विक्रियते चेतः, सतां तद्धेतुसन्निधौ ।
किं गोष्पदजलक्षोभी, क्षोभयेज्जलधेर्जलम् ॥५३॥

अन्वयार्थौ—सताम्=सज्जनों का, चेतः=मन, तद्धेतुसन्निधौ=विकार के कारण के मिल जाने पर, न विक्रियते=विकृत नहीं होता है। नीतिः—हि=क्योंकि, गोष्पदजलक्षोभी=गाय के खुर प्रमाण गहरे जल मात्र को मैला कर सकने वाला (मेंढक), जलधेः=समुद्र के, जलम्=जल को, क्षोभयेत् किम्=मैला कर सकता है क्या? अपितु न=किन्तु नहीं ॥५३॥

भावार्थः—जिस प्रकार मेंढक क्षुद्र जलाशय के, गाय के खुरप्रमाण २–३ अंगुल गहरे जल को ही अपनी क्रीड़ा और पैर आदि से मैला कर सकता है, किन्तु समुद्र के अगाध जल को नहीं, उसी प्रकार यौवनादि के कारण होने वाले क्रोधादि विकार भाव क्षुद्र जनों के हृदय में ही अपना असर दिखा सकते हैं, किन्तु महाजनों के पवित्र और गम्भीर हृदय में नहीं ॥५३॥

देशकालखलाः किं तै - श्चला धीरेव बाधिका ।
अवहितोऽत्र धर्मे स्या - दवधानं हि मुक्तये ॥५४॥

अन्वयार्थौ—देशकालखलाः=कुत्सित देश, कुत्सित काल और दुर्जन, स्यु=रहें, तैः=उनसे, किम्=क्या प्रयोजन ?, किन्तु, चला=चंचल, धीः=अपनी बुद्धि, एव=ही, बाधिका=बिगाड करने वाली, भवति=होती है। अतएव, अत्र=यहाँ, धर्मे=आत्मस्वभाव मे. अवहितः=सावधान, भव=होओ, हि=क्योंकि, अवधानम्=आत्मस्वरूप में लीन होना, मुक्तये=मोक्ष के लिये, स्यात्=होता है ॥५४॥

भावार्थ—इस संसार में यद्यपि बुरे स्थान, समय और पुरुष बहुत मिलते हैं, किन्तु यदि मनुष्य अपनी बुद्धि को चंचल न होने दे तो वे उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते हैं। इसलिये आत्महितैषियों को अपनी बुद्धि स्थिर रख कर परपदार्थों से समता भाव धारण कर मोक्ष के कारणभूत आत्मस्वरूप में लीन होना चाहिये ॥५४॥

शिक्षावचःसहस्रैर्वा, क्षीणपुण्ये न धर्मधीः ।
पात्रे तु स्फायते तस्मा - दात्मैव गुरुरात्मनः ॥५५॥

अन्वयार्थौ—वा=और, शिक्षावचःसहस्रैः=हितकारी हजारों उपदेशों से, अपि=भी, क्षीणपुण्ये=पुण्यहीन मनुष्य में, धर्मधी=धार्मिक बुद्धि, न नहीं, भवति=होती है । तु=किन्तु, पात्रे=योग्य मनुष्य मे, स्फायते=स्वयं प्राप्त हो जाती है। तस्मात =इसलिये, आत्मनः=आत्मा का, गुरुः=गुरु, आत्मा=स्वय आत्मा, एव=ही, अस्ति है ॥५५॥

भावार्थः—वास्तव में प्रत्येक आत्मा का गुरु उसका वही आत्मा ही है, व्यक्त्यन्तर नहीं। यही कारण है कि दूसरो के द्वारा हजारो हितकर उपदेशो को पाकर भी पुण्यहीन जन धार्मिकता की ओर जरा भी पग नहीं बढ़ाता है, किन्तु पुण्यात्मा पुरुष के परोपदेशादि के बिना ही धार्मिक बुद्धि स्वयंमेव उत्पन्न हो जाती है ॥५५॥

न शृण्वन्ति न बुध्यन्ति, न प्रयान्ति च सत्पथम् ।
प्रयान्तोऽपि न कार्यान्तं, धनान्धा इति चिन्त्यताम् ॥५६॥

अन्वयार्थौ—धनान्धा = धनमद से उन्मत्त मनुष्य, सत्पथम् = कल्याणकारी धर्म मार्ग को, न शृण्वन्ति = न सुनते हैं, न बुध्यन्ति = न जानते हैं, न प्रयान्ति = न (उस पर) चलते हैं, च = और, प्रयान्तः = चलते हुये, अपि = भी, कार्यान्तम् = कार्य की पूर्णता को, न प्रयान्ति = नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इति = इस प्रकार, चिन्त्यताम् = ध्यान रखना ॥५६॥

भावार्थः—जो मनुष्य धन से मालामाल होते हैं, वे प्रथम तो कल्याणकारी धर्म मार्ग को सुनते ही नहीं हैं और कदाचित् सुन भी लें, तो निरक्षर भट्टाचार्य होने से समझते ही नहीं है तथा यदि समझ भी लें, तो तदनुकूल प्रवृत्ति नहीं करते हैं एवं प्रवृत्ति भी करें, तो थोड़े ही समय में उस ओर से विमुख हो जाते हैं। हे वत्स! इन बातो को भली प्रकार ध्यान में रखना ॥५६॥

इत्याशास्य तमाश्वास्य, कृच्छ्रं स तपसे गतः ।
प्राणप्रयाणवेलायां, न हि लोके प्रतिक्रिया ॥५७॥

अन्वयार्थौ—सः = वे गुरु आर्यनन्दी, तम् = उस जीवंधर को, इति = पूर्वोक्त, आशास्य = शिक्षा देकर, च = और, आश्वास्य

=आश्वासन देकर, कृच्छ्रं यथा स्यात्तथा=बडी कठिनता से, तपसे=तप के लिये, गतः=गये। नीतिः—हि=क्योंकि, लोके=संसार में, प्राणप्रयाणवेलायाम्=प्राण निकलने के समय में, प्रतिक्रिया=मृत्यु रोकने का कोई उपाय, न भवति=नहीं होता है ॥५७॥

भावार्थः—'मणि मंत्र तंत्र बहु होई' इत्यादि वाक्यानुसार संसार में मृत्यु रोधक कोई उपाय नहीं है; अतएव उस समय एक धर्म का सहारा लेना ही शान्तिदायक और हितजनक होता है। इसलिये मुमुक्षु गुरु ने भी स्वशिष्य जीवन्धर को उक्त प्रकार शिक्षा देकर सब प्रकार समझा बुझा कर आत्मकल्याणार्थ वन को प्रस्थान किया ॥५७॥

प्रव्रज्याथ तपःशक्त्या, नित्यमानन्दमव्रजत्।
निष्प्रत्यूहा हि सामग्री, नियतं कार्यकारिणी ॥५८॥

अन्वयार्थौ—अथ=गमनानन्तर, स.=वे गुरु आर्यनन्दी, प्रव्रज्य=दीक्षा धारण कर, तपःशक्त्या=तप के सामर्थ्य से, नित्यम्=शाश्वतिक (मोक्षस्वरूप), आनन्दम्=आनन्द को, अव्रजत्=प्राप्त हुये। नीतिः—हि=क्योंकि, निष्प्रत्यूहा=विघ्न-बाधा रहित, सामग्री=कारणसामग्री, नियतम्=नियम से, कार्यकारिणी=कार्य पूर्ण करने वाला, भवति=होती है ॥५८॥

भावार्थः—पश्चात् गुरु आर्यनन्दी (लोकपाल राजा) ने पुनर्दीक्षा धारण कर घोर तप को तप, कर्म नाश कर मुक्तिवधू को वरण किया। क्योंकि कार्य की जिस कारण सामग्री में विघ्नादि प्रतिबन्धक का अभाव होता है, उसके द्वारा कार्य पूर्ति अवश्य ही होती है, अतएव पूर्व-तपस्या तो भस्मक रोग रूप विघ्न की उपस्थिति से सफल न हो सकी थी, किन्तु द्वितीय तपस्या विघ्नाभाव से सफल ही हुई ॥५८॥

तपोवनं गुरौ प्राप्ते, शुचं प्रापत् स कौरवः ।
गर्भाधानक्रियामात्र-न्यूनौ हि पितरौ गुरू ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थौ--कौरवः = कुरुवंशी, सः = वह जीवंधर, गुरौ = गुरु के, तपोवनम् = तपश्चर्या-वन को, प्राप्ते सति = प्राप्त होने पर, शुचम् = शोक को, प्रापत = प्राप्त हुआ । नीति - हि = क्योंकि, गुरू = गुरु और गुरुपत्नी, गर्भाधानक्रियामात्र-न्यूनौ = गर्भधारण की क्रियामात्र से रहित, पितरौ = माता पिता, एव = ही, स्तः = हैं ॥ ५९ ॥

भावार्थः = शिष्यों की गर्भाधान क्रिया तो माता पिता द्वारा अवश्य अधिक होती है, शेष--लालन, पालन और शिक्षादान आदि क्रियाएँ जैसी माता पिता द्वारा होती हैं, उनसे भी बढ़कर गुरुजनों द्वारा होती है इसलिये गुरुजन एक प्रकारसे माता पिताही हैं । अतएव गुरुदेव के तपश्चर्यार्थ वन को चले जाने पर जीवधर ने बहुत रंज किया ॥५९॥

तत्वज्ञानजलेनाथ, शोकाग्निं निरवापयत् ।
शैत्ये जाग्रति किन्नुस्या-दातपार्तिः कदाचन ॥ ६० ॥

अन्वयार्थौ--अथ = इसके बाद, स. = वह जीवंधर, तत्त्वज्ञानजलेन = तत्त्वज्ञानरूपी जल से, शोकाग्निम् = शोक रूपी अग्नि को, निरवापयत = शान्त करता हुआ । नीतिः-हि = क्योंकि, शैत्ये = शीत के, जाग्रति = पड़ते रहने पर, कदाचन = कभी, आतपार्तिः = गरमी का दुःख, स्यात् कि = हो सकता है क्या ? किन्तु, न = नहीं ॥ ६० ॥

भावार्थ.—जैसे ठंड के रहते गर्मी अथवा जल की सत्ता में

अग्नि अपना जोर प्रगट नहीं कर सकती है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपनी प्रतिकूल सामग्री के अस्तित्व में अपना असर प्रगट नहीं कर सकती है। तदनुसार जीवंधर ने भी शोक के प्रतिकूल, 'प्रत्येक वस्तु का वियोग अवश्यम्भावी है' ऐसा निश्चय कर अपने शोक को दूर कर दिया ॥ ६० ॥

अथास्मिन् विद्यया कान्त्या, विदुषां योषितां हृदि ।
रथे च योग्यया भाति, तत्र प्रस्तुतमुच्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके पश्चात्, विद्यया = विद्वत्ता से, विदुषाम् = विद्वानों के, कान्त्या = कान्ति से, योषिताम् = स्त्रियों के, हृदि = हृदय में, च = और, योग्यया = रथसञ्चालन की चतुराई से, रथे = रथ पर, तस्मिन् = उस जीवंधर के, भाति सति = सुशोभित होते हुए, तत्र = वहां पर, प्रस्तुतम् = हुआ वृत्तान्त, उच्यते = कहा जाता है ॥ ६१ ॥

भावार्थः—रथ सञ्चालन में चतुर जीवधर कुमार जब गुरु वियोग-जनित शोक को दूर कर अपने अनुपम पाण्डित्य से विद्वानो के समूह को तथा कमनीय कायकान्ति से स्त्रीजनों को भी मुग्ध कर रहा था उस समय जो कुछ नवीन घटना हुई उसका वर्णन यहां किया जाता है ॥ ६१ ॥

अथैकदा समभ्येत्य, राजांगणभुवि स्थिता. ।
गावोऽवस्कन्दिता व्याधै-रिति गोपा हि चुक्रुशुः॥ ६२ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, एकदा = एक समय, समभ्येत्य = आकर, राजाङ्गणभुवि = राजद्वार के मैदान में, स्थिताः = ठहरे हुए, गोपाः = ग्वाल लोग, अस्माकम् = हमारी, गावः = गायें, व्याधैः = चोर भीलों के द्वारा, अवस्कन्दिताः =

चुराली गई हैं, इति=इस प्रकार, चुक्रुशुः=रोने चिल्लाने लगे ॥ ६२ ॥

भावार्थः—एक समय कुछ ग्वाल राजद्वार के मैदान में आकर "हा! हमारी गाएं व्याधों (चोरों) ने रोकली हैं, हम क्या करें" इस प्रकार रोने चिल्लाने लगे ॥ ६२ ॥

काष्ठांगारोऽपिरुष्टोऽभूत्, तदाक्रोशवचःश्रुतेः।

असमानकृतावज्ञा, पूज्यानां हि सुदुःसहा ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थौ—काष्ठांगारः=काष्ठांगार, अपि=भी, तदाक्रोशवचःश्रुतेः=उन ग्वालों के उस रोने चिल्लाने के सुनने से, व्याधेषु=व्याधों पर, रुष्टः=क्रोधित, अभूत्=हुआ। नीतिः-हि=क्योंकि, असमानकृतावज्ञा=अपने से हीन जनों के द्वारा किया गया अपमान, पूज्यानाम्=महापुरुषों के, सुदुःसहा=अत्यन्त असह्य, भवति=होता है ॥ ६३ ॥

भावार्थः—क्योंकि क्षुद्रजनों द्वारा किये गये अपमान को महापुरुष सहन नहीं कर सकते हैं। अतएव राजा काष्ठांङ्गार भी 'राज-सत्ता में भी चोरी कर राजशासन की अव्यवस्था सूचक उच्छृङ्खल प्रवृत्ति करने रूप' अपने अपमान को सहन नहीं कर सका, इसलिये व्याधों पर बहुत क्रोधित हुआ ॥ ६३ ॥

पराजेष्ट पुनस्तेन, गवार्थं प्रहितं बलम्।

स्वदेशे हि शशप्रायो, बलिष्ठः कुञ्जरादपि ॥ ६४॥

अन्वयार्थौ—पुनः=पश्चात, तेन=उस काष्टाङ्गारके

द्वारा, गवार्थम्=गायों के छुड़ाने के लिये, प्रहितम्=भेजा हुआ, बलम्=सैन्य, पराजेष्ट=हार गया । नीतिः-हि= क्योंकि, स्वदेशे=अपने स्थान पर, शशप्रायः=खरगोश के बराबर तुच्छ जन्तु, कुञ्जरात्=हस्ती से, अपि=भी, बलिष्टः= बलवान्, भवति=होजाता है ॥ ६४ ॥

भावार्थः—अपने स्थान पर खरगोश सदृश तुच्छ प्राणी भी हस्ती के समान साहसी होजाता है। तदनुसार गायों के छुडाने के हेतु भेजी गई काष्ठाङ्गार की विशाल सेना भी अपने स्थान पर स्थित तुच्छ व्याध समूह से हार गई ॥ ६४ ॥

व्यजेष्ट व्याधसेनेति, श्रुत्वा घोषोऽपि चुक्षुभे ।

न विभेति कुतो लोक-आजीवनपरिक्षये ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थौ—घोषः=ग्वालों की झोंपड़ियों के निवासी जन, अपि=भी, व्याधसेना=व्याधों की सेना, व्यजेष्ट=जीत गई, इति=यह समाचार, श्रुत्वा=सुनकर, चुक्षुभे=क्षोभित होगये। यतः=क्योंकि, लोकः=जनसमुदाय, आजीवनपरि-क्षये=आजीविका के नष्ट होजाने पर, कुतः=किससे, न विभेति=नहीं डरता है। किन्तु, सर्वतः=सभी से, विभेति= डरता है ॥ ६५ ॥

भावार्थ.—आजीविका के नष्ट होजाने पर मनुष्य प्रायः किंकर्तव्य--विमूढ़ सा होजाता है। तदनुसार व्याधसेना की जीत सुनकर गोधनरूप जीवनोपाय के विनाश के भय से ग्वालों में भी शोक छागया ॥ ६५ ॥

नन्दगोपाह्वयः कोऽपि, तज्जयार्थं व्यचीचरत् ।
किं स्यात् किंकृत इत्येव, चिन्तयति हि पीडिताः ॥६६॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, नन्दगोपाह्वय = नन्दगोप नामक, कः = कोई ग्वाला, अपि = भी, तज्जयार्थम् = इस व्याधसेना को जीतने के हेतु, व्यचीचरत् = विचार करता हुआ । नीतिः-हि = क्योंकि, पीडिताः = व्याकुल जन, किंकृते = क्या करने पर, किम् = क्या, स्यात् = होगा, इत्येवम् = यही, चिन्तयति = विचार किया करते हैं ॥ ६६ ॥

भावार्थ.—चिन्तातुर मनुष्य 'ऐसा करने पर ऐसा होगा और ऐसा करने पर ऐसा होगा।' इस प्रकार विचारासक्त होजाते हैं। तदनुसार नन्दगोप नामक एक प्रसिद्ध ग्वाले ने भी राज-सेना के पराजित होजाने पर स्वगोधन रक्षा के हेतु व्याध सेना को जीतने के विषय में निम्न प्रकार विचार किया ॥ ६६ ॥

धनार्जनादपि क्षेमे, क्षेमादपि च तत्क्षये ।
उत्तरोत्तरवृद्धा हि, पीडा नृणामनन्तशः ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थौ—यत् = कि, नृणाम् = मनुष्यों के, धनार्जनात् = धन के कमाने से, अपि = भी, क्षेमे = धन के रक्षण में, च = और, क्षेमात् = धन के रक्षण से, अपि = भी, तत्क्षये = धन के नष्ट होजाने पर, उत्तरोत्तर वृद्धा = आगे आगे बढ़ती हुई, अनन्तशः = अनन्त गुणी पीडा = पीड़ा, भवति = होती हैं ॥ ६७ ॥

भावार्थः—प्रत्येक मनुष्य के धन कमाने, उसकी रक्षा करने

और उसके नाश होने में क्रम से अनन्तगुणी बढ़ती हुई पीड़ा हुआ करती है। इसी का मुझे (नन्दगोप) यह प्रत्यक्ष अनुभव होरहा है ॥ ६७ ॥

यथाशक्ति प्रतीकारः, करणीयस्तथापि चेत् ।
व्यर्थः किमत्र शोकेन, यदशोकः प्रतिक्रिया ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थौ—तथापि = तो भी, यथाशक्ति = शक्त्यनुसार, प्रतीकारः = प्रतिकार, करणीयः = करना चाहिये। किन्तु, चेत् = यदि प्रतिकार, व्यर्थः = असफल, स्यात् = होजावे। तर्हि = तो, अत्र = इस असफलताके होने पर, शोकेन = शोक से, किम् = क्या लाभ है, यत् = क्योंकि, अशोकः—शोक का नहीं करना, एव = ही, प्रतिक्रिया = असफलता का प्रतिकार, भवेत् = हो सकता है ॥ ६८ ॥

भावार्थः—यद्यपि धनार्जन, धन रक्षण और धन नाश उत्तरोत्तर दुःख जनक ही हैं, तो भी धन नाश का प्रतिकार [रक्षणोपाय] करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। पर कदाचित् वह उपाय सफल न हो तो शोक भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि शोकाभाव से तो धनरक्षा हो सकती है, किन्तु शोक से तो चिन्ताग्रस्त होने के कारण रक्षणोपाय करने में भी विघ्न उपस्थित हो जाता है ॥ ६८ ॥

इत्यूहेन स वीराय, विजये हि वनौकसाम् ।
सप्तकल्याणपुत्रीभिर्देया, पुत्रीत्यघोषयत् ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थौ—सः = वह नन्दगोप, इति = पूर्वोक्त, ऊहेन = विचार से, वनौकसाम् = भीलों के, विजये = जीतने में, वीराय = विजय पाने वाले के लिये, सप्तकल्याणपुत्रीभिः सह = सुवर्ण की

सात पुत्रियों के साथ, मे=मेरी, पुत्री=सुपुत्री, देया=देने योग्य है, इति=इस प्रकार, कटके=नगर में, अघोषयत्=घोषणा कराता हुआ ॥ ६७ ॥

भावार्थ —नन्दगोप ने स्वकीयगोधन--रक्षार्थ उपर्युक्त विचार कर समस्त नगर में 'जो भीलों की सेना को जीत लेगा उसे स्वर्ण की सात पुतलियों के साथ अपनी सुपुत्री प्रदान करूँगा' इस प्रकार घोषणा करादी ॥ ६६ ॥

सात्यंधरिस्तु तच्छ्रुत्वा, तद्घोषणमवारयत् ।
उदात्तानां हि लोकोऽय-मखिलो हि कुटुम्बकम् ॥७०॥

अन्वयार्थौ —तु=इसके बाद, सात्यन्धरि =सत्यन्धर का सुपुत्र जीवन्धर, तत्=उस, घोषणम्=घोषणा को, श्रुत्वा= सुनकर, अवारयत्=रुकवाता हुआ । नीतिः—हि=क्योंकि, उदात्तानाम्=महापुरुषों के, अयम्=यह, अखिल=सम्पूर्ण, लोक=संसार, एव=ही, कुटुम्बकम्=कुटुम्बस्वरूप, भवति= होता है ॥ ७० ॥

भावार्थः—महापुरुष समस्त भूमण्डल को अपने कुटुम्ब के समान ही समझते हैं और उसके हितार्थ अपने कष्ट की भी पर्वाह नहीं करते हैं, तदनुसार जिस समय महापुरुष जीवन्धर ने नन्दगोप ग्वाल द्वारा घोषित घोषणा सुनी, तब उसने गोधन की रक्षा के विचार से 'मैं इस कार्य को करूँगा' इत्यादि कह कर वह घोषणा रुकवा दी ॥ ७० ॥

जित्वाथ जीवकस्वामी, किरातानाहरत्पशून् ।
तमो ह्यभेद्य खद्योतै-र्भानुना तु विभिद्यते ॥ ७१ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, जीवकस्वामी = जीवन्धर स्वामी, किरातान् = भीलों को, जित्वा = जीत कर, पशून् = गायों को, आहरत् = वापिस लाये। नीतिः—हि = क्योंकि, खद्योतैः = पटबीजनो से, अभेद्यम् = नष्ट नहीं किया जा सकने वाला, तमः = अन्धकार, भानुना = सूर्य्य के द्वारा, तु = तो, विभिद्यते एव = नष्ट ही किया जाता है ॥ ७१ ॥

भावार्थः—जिस महान् अन्धकार को अनेकों जुगुनुयें नष्ट नहीं कर पाती हैं, उसको एक ही सूर्य्य क्षण मात्र में नष्ट कर देता है, तदनुसार जो व्याध सेना काष्ठांगार की विशाल सेना के द्वारा नहीं जीती जा सकी थी, वह तेजस्वी वीर जीवन्धर द्वारा बात की बात मे हरादी गई और रोका हुआ गोधन भी वापिस ले लिया गया ॥ ७१ ॥

ननन्द नन्दगोपोऽपि, गोधनस्योपलम्भतः ।
असुमतामसुभ्योऽपि, गरीयो हि भृश धनम् ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थौ—नन्दगोपः = नन्दगोप ग्वाला, अपि = भी, गोधनस्य = गोस्वरूप धनके, उपलम्भतः = पाने से, ननन्द = आनन्दित हुआ। नीतिः—हि = क्योंकि, असुमताम् = प्राणियों के, धनम् = धन, असुभ्यः = प्राणों से, अपि = भी भृशम् = अत्यन्त, गरीय = प्यारा, भवति होता है ॥ ७२ ॥

भावार्थ—संसारी मनुष्य धन को प्राणों से भी अधिक प्यारा मानते हैं, अतएव जीवान्धर की वीरता से गोधन के वापिस मिल जाने पर नन्द-गोप ग्वाले के भी खुशी का पारावार न रहा ॥ ७२ ॥

अथानीय सुतां दातुं, स्वामिने वार्यपातयत् ।
कृत्याकृत्यविमूढा हि, गाढस्नेहान्धजन्तवः ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थौ—अथ=गोधन प्राप्ति के बाद, नन्दगोप, स्वामिने=जीवन्धर स्वामी के लिये, दातुम्=देने को, सुताम्=स्वकीय सुपुत्री को, आनीय=लाकर, वारि=जल को, अपातयत्=गिराता हुआ । नीतिः-हि=क्योंकि, गाढस्नेहान्धजन्तवः=अतिशयस्नेह से मत्त प्राणी कृत्याकृत्यविमूढाः=कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक शून्य, भवन्ति=होते हैं ॥ ७३ ॥

भावार्थः—गाढस्नेहासक्त जन, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार न कर अनुचित कार्य करने को भी सहसा उद्यत हो जाते हैं, अतएव गोधन प्राप्ति और वीरतावलोकन से ही स्नेही नन्दगोप भी "क्षत्रिय पहिले क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह कराकर पीछे क्षत्रियेतर कन्या के साथ विवाह कराते है, तदनुसार जीवन्धर स्वामी सर्व प्रथम मुझ ग्वाले की कन्या को कैसे वरण करेंगे" ऐसा विचार किये विना ही उन्हें स्वकन्या देने को जल धारा छोड़ने लगा ॥ ७३ ॥

जीवन्धरस्तु जग्राह, वार्धारां तेन पातिताम् ।
पद्मास्यो योग्य इत्युक्त्वा, न ह्ययोग्ये स्पृहा सताम् ॥७४॥

अन्वयार्थौ—तु=किन्तु, जीवन्धरः=जीवन्धर, पद्मास्यः=पद्मास्य नामक मित्र, अस्याः=इस पुत्री के, योग्य=योग्य, अस्ति=है, इति=इस प्रकार, उक्त्वा=कहकर, तेन=उस नन्दगोप के द्वारा, पातिताम्=छोड़ी हुई, वार्धाराम्=जलधारा को, जग्राह=ग्रहण करता हुआ । नीति.—हि=क्योंकि, सताम्=

सज्जनो की, स्पृहा=इच्छा, अयोग्ये—अनुचित पदार्थ में, न भवति=नहीं होती है ॥ ७४ ॥

भावार्थ —क्योंकि महापुरुष स्वकुल के अयोग्य पदार्थ की चाह नही करते है, अतएव जीवन्धर ने उपर्युक्त नियमानुसार अपने हेतु उक्त कन्या का ग्रहण करना अनुचित समझ 'पद्मास्य नामक मित्र इस कन्या के स्वामित्व के लिये योग्य है' इस प्रकार खुलासा कर नन्दगोप द्वारा पानित जलधारा स्वीकार की ॥ ७४ ॥

माम ! मामेव पद्मास्य, पश्येति पुनरब्रवीत् ।
गात्रमात्रेण भिन्नं हि, मित्रत्व मित्रता भवेत् ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थौ—पुनः=पीछे, जीवन्धर, माम !=हे मामा, माम्=मुझको, एव=ही, पद्मास्यम्=पद्मास्य, पश्य=जानो, इति=इस प्रकार, अब्रवीत्=कहता हुआ । नीति.—हि=क्योंकि, गात्रमात्रेण=केवल शरीर से, भिन्नम्=भिन्न, मित्रत्वम्=मित्रपना, एव हीं, मित्रता=मैत्री, भवेत्=कहलाती हैं ॥ ७५ ॥

भावार्थ.—वार्धारा ग्रहण के बाद जीवन्धर ने नन्दगोप से कहा कि हे मामा 'वास्तविक मित्रता में केवल शरीर ही तो अलग २ होते हैं, किन्तु शेष कार्य और विचार आदि में लेशमात्र भी विभिन्नता नहीं होती है, इसलिये मित्रों को एक दूसरे का अभिन्न समझना चाहिये, अतएव मुझे पद्मास्य से भिन्न न समझना ॥ ७५ ॥

गोदावरीसुता दत्तां, नन्दगोपेन तुष्यता ।
परिणिन्येऽथ गोविन्दां पद्मास्यो वह्निसाक्षिकम् ॥७६॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, पद्मास्यः = पद्मास्य, तुष्यता = सन्तुष्ट, नन्दगोपेन = नन्दगोप के द्वारा, दत्ताम् = दी गई, गोदावरीसुताम् = गोदावरी की सुपुत्री, गोविन्दाम् = गोविन्दा को, वह्निसाक्षिकम् = हवनाग्नि के समक्ष, परिणिन्ये = विवाहता हुआ ॥ ७६ ॥

भावार्थ —पश्चात् जीवन्धर के अभिन्न मित्र पद्मास्य ने भी नन्द-गोप ग्वाल द्वारा प्रदत्त गोदावरी ग्वालिन की सुपुत्री गोविन्दा को हवनाग्नि के समक्ष विधि पूर्वक विवाहा ॥ ७६ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते भावार्थदीपिकाटीकोपेते

क्षत्रचूडामणौ नीतिकाव्ये द्वितीयोलम्ब समाप्तः।

अथ तृतीयोलम्बः ।

अथोपयम्य गोविन्दां, पद्मास्ये रमयत्यलम् ।
वीरश्रियं कुमारे च, तत्र प्रस्तुतमुच्यते ॥ १ ॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, गोविन्दाम्=गोविन्दा को, उपयम्य=व्याह करके,पद्मास्ये=पद्मास्य के,रमयति सति=रमण करते रहते, च=और, वीरश्रियम्=वीरलक्ष्मी को, उपयम्य=प्राप्त करके, कुमारे=जीवन्धर कुमार के, रमयति सति=अनुभव करते रहते, तत्र=वहाँ पर, प्रस्तुतम्=हुआ समाचार, उच्यते=कहा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थः—गोविन्दा के साथ विवाह होने के बाद जब पद्मास्य उसके साथ भोग भोगने लगा और जीवन्धर भी विजय लक्ष्मी का अनुभव करने लगे, तब जो समाचार हुआ उसका यहां पर वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

आसीत्तत्पुर-वास्तव्यो, वैश्यः श्रीदत्तनामकः ।
वित्तायास्पृहयत्सोऽयं, धनाशा कस्य नो भवेत् ॥ २ ॥

अन्वयार्थौ—तत्पुर-वास्तव्य.=उसी राजपुरी नगरी में रहने वाला, श्रीदत्तनामकः=श्रीदत्तनामक, वैश्यः=वैश्य, आसीत्=था । सः=प्रसिद्ध, अयम्=यह श्रीदत्त, वित्ताय=धन को, अस्पृहयत्=चाहता हुआ । नीतिः—यतः=क्योंकि, धनाशा=धन की चाह, कस्य=किसके, न भवेत्=नहीं होती है । किन्तु, सर्वेषामेव भवेत्=सभी के होती है ॥ २ ॥

भावार्थः—राजपुरी नगरी में एक श्रीदत्त नाम का वैश्य रहता

था । उसने एक समय धन कमाने की इच्छा की । क्योंकि धन कमाने की इच्छा का भूत सभी के मन पर सवार रहता है, अतएव उसने श्रीदत्त का भी पीछा न छोड़ा ॥ २ ॥

अर्थार्जननिदानं च, तत्फलं चायमौहत ।
निरंकुशं हि जीवाना–मैहिकोपायचिन्तनम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थौ—पुनः = फिर, अयम् = यह श्रीदत्त, अर्थार्जन-निदानम् = धन कमाने के कारण को, च = और, तत्फलम् = धन कमाने के फल को, औहत = विचारने लगा । नीति —हि = क्योंकि, जीवानाम् = जीवों के, ऐहिकोपायचिन्तनम् = इस लोक संबन्धी सुखों के उपायों का विचार, निरंकुशम् = स्वयमेव, भवति = होता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—प्रत्येक ससारी जीव को सासारिक कार्यों के उपायों के सिखलाने की जरूरत नहीं होती है, किन्तु उनको स्वयमेव उनका परिज्ञान हो जाता है । इस लिये श्रीदत्त वैश्य ने भी धनोपार्जन के कारण और फलों का निम्न प्रकार विचार किया ॥ ३ ॥

अस्तु पैतृकमस्तोकं, वस्तु किं तेन वस्तुना ।
रोच्यते न हि शौण्डाय, परपिण्डादिदीनता ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौ—पैतृकम् = पिता के द्वारा कमाया हुआ, अस्तोकम् = बहुतसा, वस्तु = धन, अस्तु = रहे, किन्तु, तेन = उस धनसे, मे = मेरे, किम् = क्या प्रयोजन, अस्ति = है । नीति·—हि = क्योंकि, शौण्डाय = पुरुषार्थी जन को, परपिण्डादिदीनता = अन्योपार्जित द्रव्य से निर्वाह करने में (अवश्यभावी) दीनता, न रोचते = प्रिय नहीं लगती है ॥ ४ ॥

अथ तृतीयोलम्बः ।

अथोपयम्य गोविन्दां, पद्मास्ये रमयत्यलम् ।
वीरश्रियं कुमारे च, तत्र प्रस्तुतमुच्यते ॥ १ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, गोविन्दाम् = गोविन्दा को, उपयम्य = व्याह करके, पद्मास्ये = पद्मास्य के, रमयति सति = रमण करते रहते, च = और, वीरश्रियम् = वीरलक्ष्मी को, उपयम्य = प्राप्त करके, कुमारे = जीवन्धर कुमार के, रमयति सति = अनुभव करते रहते, तत्र = वहाँ पर, प्रस्तुतम् = हुआ समाचार, उच्यते = कहा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ :—गोविन्दा के साथ विवाह होने के वाद जब पद्मास्य उसके साथ भोग भोगने लगा और जीवन्धर भी विजय लक्ष्मी का अनुभव करने लगे, तब जो समाचार हुआ उसका यहां पर वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

आसीत्तत्पुर-वास्तव्यो, वैश्यः श्रीदत्तनामकः ।
वित्तायास्पृहयत्सोऽयं, धनाशा कस्य नो भवेत् ॥ २ ॥

अन्वयार्थौ—तत्पुर-वास्तव्य = उसी राजपुरी नगरी में रहने वाला, श्रीदत्तनामकः = श्रीदत्तनामक, वैश्यः = वैश्य, आसीत् = था । सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह श्रीदत्त, वित्ताय = धन को, अस्पृहयत् = चाहता हुआ । नीतिः—यतः = क्योंकि, धनाशा = धन की चाह, कस्य = किसके, न भवेत् = नहीं होती है । किन्तु, सर्वेषामेव भवेत् = सभी के होती है ॥ २ ॥

भावार्थः—राजपुरी नगरी में एक श्रीदत्त नाम का वैश्य रहता

था। उसने एक समय धन कमाने की इच्छा की। क्योंकि धन कमाने की इच्छा का भूत सभी के सर पर सवार रहता है, अतएव उसने श्रीदत्त का भी पीछा न छोड़ा ॥ २ ॥

अर्थार्जननिदानं च, तत्फलं चायमौहत।
निरंकुशं हि जीवाना–मैहिकोपायचिन्तनम् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थौ—पुनः = फिर, अयम् = यह श्रीदत्त, अर्थार्जननिदानम् = धन कमाने के कारण को, च = और, तत्फलम् = धन कमाने के फल को, औहत = विचारने लगा। नीति —हि = क्योंकि, जीवानाम् = जीवों के, ऐहिकोपायचिन्तनम् = इस लोक संबन्धी सुखों के उपायों का बिचार, निरंकुशम् = स्वयमेव, भवति = होता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—प्रत्येक ससारी जीव को सासारिक कार्यों के उपायों के सिखलाने की जरूरत नहीं होती है, किन्तु उनको स्वयमेव उनका परिज्ञान हो जाता है। इस लिये श्रीदत्त वैश्य ने भी धनोपार्जन के कारण और फलों का निम्न प्रकार विचार किया ॥ ३ ॥

अस्तु पैतृकमस्तोकं, वस्तु किं तेन वस्तुना।
रोच्यते न हि शौण्डाय, परपिण्डादिदीनता ॥ ४ ॥

अन्वयार्थौ—पैतृकम् = पिता के द्वारा कमाया हुआ, अस्तोकम् = बहुतसा, वस्तु = धन, अस्तु = रहे, किन्तु, तेन = उस धनसे, मे = मेरे, किम् = क्या प्रयोजन, अस्ति = है। नीति·—हि = क्योंकि, शौण्डाय = पुरुषार्थी जन को, परपिण्डादिदीनता = अन्योपार्जित द्रव्य से निर्वाह करने में (अवश्यभावी) दीनता, न रोचते = प्रिय नहीं लगती है ॥ ४ ॥

भावार्थ·-जिस मनुष्य में पुरुषार्थ कर धन कमाने की दम होती है वह अन्योपार्जित धन से निर्वाह करना पसंद नहीं करता, अतएव यद्यपि मेरे पास कुलपरम्परागत बहुत सम्पत्ति है, तो भी केवल उसीके बल पर अवलम्बित रहना उचित नहीं है ॥ ४ ॥

स्वापतेयमनाय चेत्—सव्ययं व्येति भूर्यपि ।
सर्वदा भुज्यमानो हि, पर्वतोऽपि परिक्षयी ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौ—चेत्=यदि, स्वापतेयम्=स्वस्वामिक धन अनायं सत्=आमदनी रहित होता हुआ, सव्ययम्=खर्च सहित, स्यात्=होता है, तर्हि=तो, भूरि सत्=बहुत होता हुआ, अपि=भी, व्येति=नष्ट हो जाता है। नीति—हि= क्योंकि, सर्वदा=हमशा, भुज्यमानः=भोगा जाने वाला, पर्वत.=पर्वत, अपि=भी, परिक्षयी=नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ -जिस प्रकार विशाल पर्वत में से प्रति दिन एक २ पत्थर खर्च होता जावे और स्थानान्तर से लाकर उसमें मिलाये न जावें, तो एक समय उसके नाम निशान भी न रहने की सम्भावना की जा सकती है, उसी प्रकार जिस सचित धनमें आय तो न हो और व्यय होता जावे तो एक समय उस धनका भी नाम निशान न रहेगा, इस लिये धन की सत्ता और वृद्धि के हेतु धन कमाना आवश्यक है ॥ ५ ॥

दारिद्र्यादपरं नास्ति, जन्तूनामप्यरुन्तुदम् ।
अत्यक्तं मरणं प्राणैः, प्राणिनां हि दरिद्रता ॥ ६ ॥

अन्वयार्थौ—जन्तूनाम्=प्राणियों के, दारिद्र्यात्= निर्धनता से बढकर, अपरम्=कोई दूसरा, अरुन्तुदम्=हार्दिक

दुःख दायक, न अस्ति = नहीं है । नीति —हि = क्योंकि, दरिद्रता = निर्धनता, प्राणिनाम् = जीवों के, प्राणै = प्राणों से अत्यक्तम् = नहीं छूटा हुआ, मरणम् = मरण, एव = ही, अस्ति = है ॥ ६ ॥

भावार्थ —इस लोक मे निर्धनता से मनुष्य के हृदय में जितना धक्का लगता है उतना अन्य किसी से नहीं । अधिक क्या ? निर्धनता से केवल प्राण तो नहीं निकलते हैं, किंतु और सब बातों मे वह मृत्यु से कम नहीं है ॥ ६ ॥

रिक्तस्य हि न जागर्ति, कीर्तनीयोऽखिलो गुणः ।

हन्त किं तेन विद्यापि, विद्यमाना न शोभते ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ—रिक्तस्य = गरीब का, कीर्तनीयः = प्रशंसनीय, अखिल = समस्त, गुण = गुणसमूह, न जागर्ति = प्रगट नहीं रहता है, च = और, तेन किम् = उससे क्या ? किन्तु, तस्य = उस निर्धन के, विद्यमाना = मौजूद, विद्या = ज्ञान, अपि = भी, न शोभते = शोभायमान नहीं होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ —जो मनुष्य निर्धन हो जाता है, उसके प्रशस्त भी गुण अपना प्रभाव नही दिखला सकते है । और तो क्या ? उसकी भली प्रकार अभ्यस्त विद्या भी नहीं के समान हो जाती है और वह भौंचक्का सा हो जाता है ॥ ७ ॥

स्यादकिञ्चित्करः सोऽय–माकिचन्येन वञ्चितः ।

अलमन्यैः स साकूतं, धन्यवक्त्रं च पश्यति ॥ ८ ॥

अन्वयार्थौ—आकिञ्चन्येन=निर्धनता से, वंचितः= ठगाया गया, सः अयम्=वह दरिद्र पुरुष, अकिंचित्करः=किं कर्त्तव्यविमूढ़, स्यात्=हो जाता है। अन्यै=औरों से, अलम्= बस, किन्तु, सः=वह निर्धन, साकूतं यथा स्यात्तथा=चाह के अभिप्राय पूर्वक, धन्यवक्त्रम्=लक्ष्मीवानों के मुख को, अपि= भी, पश्यति=देखता है॥ ८॥

भावार्थ—निर्धन होने से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती और वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक से हीन हो जाता है। अधिक तो क्या? वह किसी वस्तु की चाहना के अभिप्राय से धनवानों के मुख की ओर भी ताकने लगता है। इस प्रकार श्रीदत्त वैश्य ने धन कमाने के कारण का विचार किया॥ ८॥

सम्पल्लाभफलं पुंसां, सज्जनानां हि पोषणम्।
काकार्थफलनिम्बोऽपि, श्लाघ्यते नहि चूतवत्॥ ९॥

अन्वयार्थौ—पुंसाम्=मनुष्यों के, सम्पल्लाभफलम्=धन दौलत पाने का फल, सज्जनानाम्=धर्मात्मा जनों का, पोषणम्= रक्षण करना, एव=ही, अस्ति=है। नीतिः—हि=क्योंकि, काकार्थफलनिम्बः=कौवे के लिये हितकारी है फल जिसका ऐसा नीमका वृक्ष, चूतवत्=आम के वृक्ष के समान, न श्लाघ्यते= प्रशंसनीय नहीं हो सकता है॥ ९॥

भावार्थः—जिस प्रकार नीम का वृक्ष यद्यपि कौवे के लिये हितकारी है, फिर भी वह सभी प्राणियों के काम में नहीं आता है, इस लिये वह सबके लिये सुस्वादु फल दायक आम्र वृक्ष के समान प्रशंसा नहीं पाता है, उसी प्रकार नीच पुरुषों को धन दौलत खिलाने

से यद्यपि उन्हें संतोष होगा पर धर्मात्माओं के प्रति व्यय होने से उसकी जितनी सार्थकता होती है, उतनी दुर्जनों के प्रति लगाने से नहीं, इस लिये सम्पत्ति पाने का फल सज्जनों का पोषण करना ही है ॥ ९ ॥

लोकद्वयहितं चापि, सुकरं वस्तु नासताम्।
लवणाब्धिगतं हि स्या–न्नादेयं विफलं जलम् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—च = और, लोकद्वयहितम् = इस लोक और परलोक में हितकारी, अपि = भी, वस्तु = पदार्थ, असताम् = दुर्जनों के, सुकरम् = सुख देने वाला, न भवति = नहीं होता है। नीतिः—हि = क्योंकि, नादेयम् = नदी सम्बन्धी, जलम् = जल, लवणाब्धिगतं सत् = लवण समुद्र में प्राप्त होता हुआ, विफलम् = वेकार, स्यात् = हो जाता है ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे नदी का उत्तम स्वादिष्ट जल समुद्र में मिलकर खारा और अपेय हो जाता है, उसी प्रकार सज्जनों के उभयलोक में सुखदायक भी वस्तु दुर्जनों के पास पहुंचने पर उन्हें दुःखजनक प्रतीत होने लगती है, इस लिये सत्सम्पत्ति को पाकर दुर्जनों को देना उसका दुरुपयोग करना ही है, किन्तु सज्जनों के विषय में खर्च करने से ही उसकी सफलता हो सकती है। इस प्रकार श्रीदत्त ने धन कमाने के फल का निश्चय किया ॥ १० ॥

इत्यूहान्नावमारुह्य, प्रतस्थे स वणिक्पतिः।
वार्धिमेव धनार्थी किं, गाहते पार्थिवानपि ॥ ११ ॥

अन्वयार्थौ—सः = वह, वणिक्पतिः = वैश्य, इति =

पूर्वोक्त, ऊह्यात्=विचार से, नावम्=नौका पर, आरु=बैठ कर, प्रतस्थे=रवाना हुआ । नीति-हि=क्योंकि, धनार्थी=धन का इच्छुक जन, वार्धिम्=समुद्र में, एव=ही, गाहते किम्=सैर करता है क्या ? अपितु, पार्थिवान्=द्वीप द्वीपान्तर और राजा महाराजाओं को, अपि=भी, गाहते=प्राप्त करता है ॥११

भावार्थः—जो मनुष्य धन कमाने की धुन में मस्त हो जाता है, उसके समुद्र यात्रा कोई गणनीय बात नहीं, किन्तु वह दूरवर्ती बड़े २ द्वीप द्वीपान्तरों की सैर और वडे २ राजा महाराजाओं की खुशामदे भी करता है, तदनुसार श्रीदत्त ने भी धनोपार्जन के कारण और फल को विचार कर समुद्रयात्रा करने के हेतु नाव पर सवार हो देशान्तर को प्रस्थान किया ॥ ११ ॥

देशान्तरान्न्यवर्तिष्ट, पुष्टः सांयात्रिको धनैः ।
अतर्क्यं खलु जीवाना—मर्थसंचयकारणम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थौ—पुनः=फिर, सांयात्रिकः=धनार्थ नाव से यात्रा करने वाला श्रीदत्त वैश्य, धनैः=बहुत धन से, पुष्टः सन्=युक्त होता हुआ, द्वीपान्तरात्=दूसरे द्वीप से, न्यवर्तिष्ट=लौटा। । नीति—यत =क्योंकि, जीवनाम्=प्राणियों के, अर्थसंचयकारणम्=धन कमाने का हेतु, खलु=निश्चय से, अतर्क्यम्=विचारातीत, भवति=होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ:—धनोपार्जन के अनेक ऐसे कारण हैं, कि जिनसे मनुष्य के स्वल्प समय में ही लक्षाधीश या कोटिपति तक होते देर नहीं लगती, तदनुसार किसी द्वीपान्तर में जाकर श्रीदत्त भी किसी अनिर्वचनीय कारण से बहुत से धन का उपार्जन कर शीघ्र ही स्वदेश को लौट आया ॥ १२ ॥

अवारान्तमथ प्रापत्, पारावारस्य नाविकः ।
चुक्षुभे नौरिहासारा-न्नहि वेद्यो विपत्क्षणः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, यदा = जब, नाविकः = नौका का स्वामी श्रीदत्त, पारावारस्य = समुद्र के, अवारान्तम् = द्वितीय तट के समीप को, प्रापत् = प्राप्त हुआ, तदा = तब, इह = यहां पर, आसारात् = धारा प्रवाह वृष्टि से, नौः = नौका चुक्षुभे = क्षोभित होगई । नीति –हि = क्योंकि, विपत्क्षणः = विपत्ति का समय, वेद्यः = पहिले से जानने योग्य, न भवति = नहीं होता है ॥ १३ ॥

भावार्थः—किस पर कब और क्या विपत्ति आवेगी यह पहिले से ही निश्चित नहीं किया जा सकता है, तदनुसार श्रीदत्त को भी यकायक आई हुई विपत्ति का सामना करना पड़ा-वह धन दौलत के साथ समुद्र के दूसरे किनारे पर पहुँचना ही चाहता था कि इतने मे ही बड़े जोर की वृष्टि से उसकी नौका क्षुब्ध होकर डूबने लगी ॥ १३ ॥

पूर्वमेव तु नौनाशाच्-छोकाब्धिं पोतगा गताः ।
काष्ठागतस्य दुःखस्य, दृष्टान्तं तद्धि नौक्षये ॥ १४ ॥

अन्वयार्थौ—तु = और, पोतगाः = नौकापर बैठे हुए अन्य मनुष्य, नौनाशात् = नौका के नाश से, पूर्वम् = पहिले, एव = ही, शोकाब्धिम् = शोक रूपी समुद्र को, गताः = प्राप्त होगये । हि = निश्चय से, नौक्षये = नौका के नष्ट होजाने पर, तत् = वह शोक, काष्ठागतस्य = हद दर्जे को प्राप्त, दुःखस्य = दुःख का, दृष्टान्तम् = दृष्टान्त, जातम् = हो गया ॥ १४ ॥

भावार्थः—नौका ज्यो ज्यों जल (समुद्र) मग्न होती जाती थी त्यों त्यों नाव पर बैठे हुए मनुष्य भी शोक रूपी समुद्रमें मग्न होते जाते थे। और जिस समय नौका विलकुल ही डूबने लगी उस समय मनुष्यों के दुःख की जो हालत थी वह सब से ज्यादह दु ख का नमूना ही था, [अर्थात् उस समय के दुःख बराबर तो ससार में और कोई दुःख हो ही नहीं सकता है] ।। १४ ॥

सांयात्रिकस्तु तत्वज्ञो, विकारं नैव जग्मिवान् ।

अज्ञात्प्राज्ञस्य को भेदो, हेतोश्चेद्विकृतिर्द्वयोः ॥१५॥

अन्वयार्थौ—तु = किन्तु, तत्त्वज्ञः = विवेकी धीर, सांयात्रिकः = नौका का स्वामी श्रीदत्त, विकारं = खेदादि विकार भावको, न = नहीं, जग्मिवान् = प्राप्त हुआ । नीतिः- हि = क्योंकि, चेत् = यदि, हेतोः = विकार के कारण से, द्वयोः = मूर्ख और विवेकी दोनों के, विकृतिः = विकार भाव, स्यात् = हो, तर्हि = तो, अज्ञात् = मूर्ख से, प्राज्ञस्य = विद्वान् का, कः = कौन, भेदः = भेद, स्यात् = हो ॥ १५ ॥

भावार्थः—विवेकी जन तो विकार के कारण मिलजाने पर भी धैर्य को धारण करते हैं। किन्तु मूर्ख जन घबड़ा जाते हैं, यही उन दोनों में भेद है। किन्तु यदि विकार के कारण मिलने पर विवेकी जन भी विकार भाव को प्राप्त होने लगें तो उन दोनों में कोई भी अन्तर नहीं कहा जा सकेगा, अतएव यद्यपि शेष जन तो नौका को डूबती देख हाय ! हाय !! मरे २ इत्यादि प्रकार से घबड़ाने लगे, किन्तु विवेकी श्रीदत्त जरा भी विचलित नहीं हुआ ॥ १५ ॥

से यद्यपि उन्हें संतोष होगा पर धर्मात्माओं के प्रति व्यय होने से उसकी जितनी सार्थकता होती है, उतनी दुर्जनों के प्रति लगाने से नहीं, इस लिये सम्पत्ति पाने का फल सज्जनों का पोषण करना ही है ॥ ९ ॥

लोकद्वयहितं चापि, सुकरं वस्तु नासताम्।
लवणाब्धिगतं हि स्या-न्नादेयं विफलं जलम् ॥१०॥

अन्वयार्थौ—च = और, लोकद्वयहितम् = इस लोक और परलोक में हितकारी, अपि = भी, वस्तु = पदार्थ, असताम् = दुर्जनों के, सुकरम् = सुख देने वाला, न भवति = नहीं होता है। नीतिः—हि = क्योंकि, नादेयम् = नदीसम्बन्धी, जलम् = जल, लवणाब्धिगतं सत् = लवण समुद्र में प्राप्त होता हुआ, विफलम् = वेकार, स्यात् = हो जाता है ॥ १० ॥

भावार्थः—जैसे नदी का उत्तम स्वादिष्ट जल समुद्र में मिलकर खारा और अपेय हो जाता है, उसी प्रकार सज्जनों के उभयलोक में सुखदायक भी वस्तु दुर्जनों के पास पहुंचने पर उन्हें दुःखजनक प्रतीत होने लगती है, इस लिये सत्सम्पत्ति को पाकर दुर्जनों को देना उसका दुरुपयोग करना ही है, किन्तु सज्जनों के विषय में खर्च करने से ही उसकी सफलता हो सकती है। इस प्रकार श्रीदत्त ने धन कमाने के फल का निश्चय किया ॥ १० ॥

इत्यूहान्नावमारुह्य, भतस्थे स वणिक्पतिः।
वार्धिमेव धनार्थी किं, गाहते पार्थिवानपि ॥ ११ ॥

अन्वयार्थौ—सः = वह, वणिक्पतिः = वैश्य, इति =

पूर्वोक्त, ऊहात्=विचार से, नावम्=नौका पर, आरु=बैठ कर, प्रतस्थे=रवाना हुआ । नीति'-हि=क्योंकि, धनार्थी= धन का इच्छुक जन,वार्धिम्=समुद्र मे, एव=ही,गाहते किम्= सैर करता है क्या ? अपितु, पार्थिवान्=द्वीप द्वीपान्तर और राजा महाराजाओं को, अपि=भी, गाहते=प्राप्त करता है ॥११

भावार्थः—जो मनुष्य धन कमाने की धुन में मस्त हो जाता है, उसके समुद्र यात्रा कोई गणनीय बात नहीं, किन्तु वह दूरवर्ती बड़े २ द्वीप द्वीपान्तरों की सैर और बड़े २ राजा महाराजाओं की खुशामदें भी करता है, तदनुसार श्रीदत्त ने भी धनोपार्जन के कारण और फल को विचार कर समुद्रयात्रा करने के हेतु नाव पर सवार हो देशान्तर को प्रस्थान किया ॥ ११ ॥

देशान्तरान्न्यवर्तिष्ट, पुष्टः सायात्रिको धनैः ।
अतर्क्यं खलु जीवाना-मर्थसंचयकारणम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थौ—पुनः=फिर, सांयात्रिकः=धनार्थ नाव से यात्रा करने वाला श्रीदत्त वैश्य, धनैः=बहुत धन से,पुष्टः सन्= युक्त होता हुआ, द्वीपान्तरात्=दूसरे द्वीप से, न्यवर्तिष्ट= लौटा। नीति—यत=क्योंकि, जीवनाम्=प्राणियो के, अर्थ-संचयकारणम्=धन कमाने का हेतु, खलु=निश्चय से,अतर्क्यम् =विचारातीत, भवति=होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ'—धनोपार्जन के अनेक ऐसे कारण हैं, कि जिनसे मनुष्य के स्वल्प समय में ही लक्षाधीश या कोटिपत्ति तक होते देर नहीं लगती, तदनुसार किसी द्वीपान्तर मे जाकर श्रीदत्त भी किसी अनिर्व-चनीय कारण से बहुत से धन का उपार्जन कर शीघ्र ही स्वदेश को लौट आया ॥ १२ ॥

अवारान्तमथ प्रापत्, पारावारस्य नाविकः ।
चुक्षुभे नौरिहासारा-न्नहि वेद्यो विपत्क्षणः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, यदा = जब, नाविकः = नौका का स्वामी श्रीदत्त, पारावारस्य = समुद्र के, अवारान्तम् = द्वितीय तट के समीप को, प्रापत् = प्राप्त हुआ, तदा = तब, इह = यहां पर, आसारात् = धारा प्रवाह वृष्टि से, नौः = नौका चुक्षुभे = क्षोभित होगई । नीति -हि = क्योंकि, विपत्क्षणः = विपत्ति का समय, वेद्यः = पहिले से जानने योग्य, न भवति = नहीं होता है ॥ १३ ॥

भावार्थः—किस पर कब और क्या विपत्ति आवेगी यह पहिले से ही निश्चित नहीं किया जा सकता है, तदनुसार श्रीदत्त को भी यकायक आई हुई विपत्ति का सामना करना पड़ा-वह धन दौलत के साथ समुद्र के दूसरे किनारे पर पहुँचना ही चाहता था कि इतने में ही बड़े जोर की वृष्टि से उसकी नौका क्षुब्ध होकर डूबने लगी ॥ १३ ॥

पूर्वमेव तु नौनाशाच्-छोकाब्धिं पोतगा गताः ।
काष्ठागतस्य दुःखस्य, दृष्टान्तं तद्धि नौक्षये ॥ १४ ॥

अन्वयार्थौ—तु = और, पोतगाः = नौकापर बैठे हुए अन्य मनुष्य, नौनाशात् = नौका के नाश से, पूर्वम् = पहिले, एव = ही, शोकाब्धिम् = शोक रूपी समुद्र को, गताः = प्राप्त होगये । हि = निश्चय से, नौक्षये = नौका के नष्ट होजाने पर, तत् = वह शोक, काष्ठागतस्य = हद दरजे को प्राप्त, दुःखस्य = दुःख का, दृष्टान्तम् = दृष्टान्त, जातम् = हो गया ॥ १४ ॥

भावार्थः—नौका ज्यों ज्यों जल (समुद्र) मग्न होती जाती थी त्यों त्यों नाव पर बैठे हुए मनुष्य भी शोक रूपी समुद्रमे मग्न होते जाते थे। और जिस समय नौका बिलकुल ही डूबने लगी उस समय मनुष्यों के दुःख की जो हालत थी वह सब से ज्यादह दुःख का नमूना ही था, [अर्थात् उस समय के दुःख बराबर तो संसार में और कोई दुःख हो ही नहीं सकता है] ॥ १४ ॥

सांयात्रिकस्तु तत्वज्ञो, विकारं नैव जग्मिवान् ।
अज्ञात्प्राज्ञस्य को भेदो,हेतोश्चेद्विकृतिर्द्वयोः ॥१५॥

अन्वयार्थौ—तु = किन्तु, तत्त्वज्ञः = विवेकी धीर, सांयात्रिकः = नौका का स्वामी श्रीदत्त, विकारं = खेदादि विकार भावको, न = नहीं, जग्मिवान् = प्राप्त हुआ। नीतिः-हि = क्योंकि, चेत् = यदि, हेतोः = विकार के कारण से, द्वयोः = मूर्ख और विवेकी दोनों के, विकृतिः = विकार भाव, स्यात् = हो, तर्हि = तो, अज्ञात् = मूर्ख से, प्राज्ञस्य = विद्वान् का, कः = कौन, भेदः = भेद, स्यात् = हो ॥ १५ ॥

भावार्थः—विवेकी जन तो विकार के कारण मिलजाने पर भी धैर्य को धारण करते हैं। किन्तु मूर्ख जन घबड़ा जाते है, यही उन दोनों में भेद है। किन्तु यदि विकार के कारण मिलने पर विवेकी जन भी विकार भाव को प्राप्त होने लगें तो उन दोनों में कोई भी अन्तर नहीं कहा जा सकेगा, अतएव यद्यपि शेष जन तो नौका को डूबती देख हाय ! हाय !! मरे २ इत्यादि प्रकार से घबड़ाने लगे, किन्तु विवेकी श्रीदत्त जरा भी विचलित नहीं हुआ ॥ १५ ॥

भाविन्या विपदो यूयं, विपन्नाः किं बुधाः शुचा।

सर्पशंकाविभीताः किं, सर्पास्ये करदायिनः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थौ--बुधाः = हे समझदार पुरुषो, यूयम् = तुम सब, भाविन्या = भविष्य में होने वाली, विपदः = विपत्ति के, शुचा = शोक से, विपन्नाः = दुःखी, किं = क्यों, भवथ = होते हो, नीतिः-यतः = क्योंकि, सर्पशंकाविभीताः = सर्प के डर से भयभीत, जनाः = मनुष्य, सर्पास्ये = सर्प के मुह में, करदायिनः = हाथ देने वाले, भवन्ति किं = होते हैं क्या ? न = नहीं॥१६॥

भावार्थः—श्रीदत्त नौका पर बैठे हुए लोगों को समझाता है कि हे समझदार लोगो ! जो मनुष्य सर्प से डरता है वह उसके मुख में हाथ कभी नहीं देता है, उसी प्रकार यदि आप लोग भी विपत्ति से डरते हैं तो आपका भी कर्त्तव्य है कि आप भी विपत्ति के मुख स्वरूप शोक का परित्याग करदें ॥ १६ ॥

विपदस्तु प्रतीकारो, निर्भयत्वं न शोकिता ॥

तच्च तत्त्वविदामेव, तत्त्वज्ञाः स्यात तद्बुधाः ॥१७॥

अन्वयार्थौ—तु = और, बुधा = हे समझदारो, विपद. = विपत्ति के, प्रतीकार = दूर करने का उपाय, निर्भयत्वं = निर्भयपना, एव = ही, अस्ति = है, शोकिता = शोक करना, न = नहीं, च = और, तत् = वह निर्भयपना, तत्त्वविदाम् = तत्त्वज्ञानियों के, एव = ही, भवति = होता है, अतएव, यूयं = तुम सब, तत्त्वज्ञा. = तत्त्वज्ञानी, स्यात = होवो ॥ १७ ॥

भावार्थ.--हे समझदारो ! शोक करने से विपत्ति नष्ट नहीं

होती है, किन्तु उसके लिये निर्भयता की जरूरत होती है और वह निर्भयता तत्त्वज्ञानियों के ही होती है, इस लिये तुमको भी तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर निर्भय होना चाहिये ॥ १७ ॥

इत्यप्यबोधयत्सोऽयं, वणिक्पोताश्रितान्सुधीः ।

तत्त्वज्ञानं हि जीवानां, लोकद्वयसुखावहम् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थौ—इति = इस प्रकार, सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह, सुधी. = चतुर, वणिक् = श्रीदत्त वैश्य, पोताश्रितान् = नौका में बैठे हुए, जनान् = मनुष्यों को, अपि = भी, अबोधयत् = समझाता हुआ, हि = निश्चय से, तत्त्वज्ञानम् = तत्त्वज्ञान, जीवानाम् = प्राणियों के, लोकद्वयसुखावहम् = इस लोक और परलोक में सुख को देने वाला, भवति = होता है ॥ १८ ॥

भावार्थ.—तत्त्व ज्ञान से ही मनुष्यों को इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति होती है, इस प्रकार श्रीदत्त ने नौका पर बैठे हुए लोगों को उपदेश दिया ॥ १८ ॥

तावता नावि नष्टायां, दृष्टोऽभूत्कूपखण्डकः ।

सत्यायुषि हि जायेत, प्राणिनां प्राणरक्षणम् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थौ—तावता = इतने में ही, नावि = नौका के नष्टायाम्—नष्ट होने पर, कः = कोई, कूप खंडकः = नौका के बीच में हवा रोकने के लिये वस्त्र बन्धन का बल्ला, दृष्टः अभूत् = दिखलाई पड़ा । नीतिः—हि = क्योंकि, आयुषि सति = आयु के होने पर, प्राणिनाम् = प्राणियों के, प्राणरक्षणम् = प्राणों की रक्षा, जायेत = होती ही है ॥ १९ ॥

भावार्थः—जब तक प्राणी की आयु शेष रहती है, और अकाल मृत्यु आदि नहीं होनी होती है, तब तक उसकी रक्षा के साधन भी अपने आप ही मिलते रहते हैं। चूंकि श्रीदत्त की भी आयु अभी शेष थी. अतएव नौका के नष्ट होजाने पर एक प्रस्तूप का टुकड़ा उसके भी हाथ लग गया ॥ १९ ॥

श्रीदत्तस्तु तमारुह्य, प्रासदद्द्वीपसंश्रितः ।
राज्यभ्रष्टोऽपि तुष्टः स्याल्लब्धप्राणो हि जन्तुकः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—तु = और, श्रीदत्तः = श्रीदत्त, तम् = उस बल्ले पर, आरुह्य = चढ़कर, द्वीपसंश्रितः सन् = किसी द्वीप को प्राप्त होता हुआ, प्रासदत् = प्रसन्न हुआ । नीति.—हि = क्योंकि, राज्यभ्रष्टः = राज्यभ्रष्ट, अपि = भी, जन्तुकः = मनुष्य, लब्धप्राणः = बच गये हैं प्राण जिसके ऐसा, सन् = होता हुआ, तुष्टः = प्रसन्न, स्यात् = होता है।

भावार्थः—श्रीदत्त सेठ उस नौका की लकडी के टुकडे पर बैठ कर धीरे २ किसी एक द्वीप के पास पहुच कर मारे हर्ष के फूला न समाया। क्योंकि मनुष्य राज्य से भले ही च्युत होजावे किन्तु यदि उसके प्राणों की रक्षा हो जावे तो उसे बहुत ही हर्ष होता है, अतएव श्रीदत्त ने भी उस धनके नाश की जरा भी परवाह न कर अपनी प्राणरक्षा से बहुत आनन्द माना ॥ २० ॥

नष्टशेवधिरप्येष-मृष्टमेवमतर्कयत् ।
दुःखार्थोऽपि सुखार्थो हि तत्त्वज्ञानधने सति ॥ २१ ॥

अन्वयार्थौ—नष्टशेवधिः = समुद्र में डूब गया है, धन जिसका ऐसा, अपि = भी, एषः = यह श्रीदत्त, मृष्टं यथा

स्यात्तथा = आकुलता से रहित, एव = वक्ष्यमाण रीति से, अतर्कयत् = बिचारने लगा। नीति—हि = क्योंकि, तत्त्वज्ञानधने सति = तत्त्वज्ञान रूपी धनके, होने पर, दुःखार्थः = दुःखकारक पदार्थ, अपि = भी, सुखार्थः = सुख का हेतु, भवति = हो जाता है॥ २१॥

भावार्थः—तत्त्वज्ञान के होने पर दुःखोत्पत्ति के हेतु भूत वस्तु भी वैराग्योत्पत्ति आदि का कारण बन सुखदायक होजाती है, तदनुसार तत्त्वज्ञानी श्रीदत्त ने भी सारी धन सम्पत्ति के जल मग्न होजाने पर भी वस्तु स्वरूप का अनुभव कर निम्न प्रकार उत्तम बिचार ही किया॥२१॥

तृष्णाग्निदह्यमानस्त्वं, मूढात्मन्किं नु मुह्यसि।
लोकद्वयहितध्वंसोर्न हि तृष्णारुषोर्भिदा॥ २२॥

अन्वयार्थौ—मूढात्मन् = हे मूर्ख आत्मा, तृष्णाग्निदह्यमानः = तृष्णा रूपी अग्नि से जलता हुआ, त्वं = तू, किं नु = क्यों, मुह्यसि = मोहित होता है? हि = क्योंकि, लोकद्वयहितध्वंसोः = इस लोक और परलोक सम्बन्धी हित को नष्ट करने वाले, तृष्णारुषोः = तृष्णा और क्रोध में, भिदा = भेद, न अस्ति = नहीं है॥ २२॥

भावार्थः—हे आत्मन्! जिस प्रकार क्रोध ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही सुखों पर पानी फेर देता है, उसी प्रकार यह तृष्णा रूपी अग्नि भी तेरे उभय लोक को नष्ट करने वाली है, यह जानकर भी तू उसी तृष्णा के वशीभूत होकर पर वस्तुओं में मोहित हो रहा है, यह सर्वथा अनुचित है॥ २२॥

लोकद्वयहितायात्मन्, नैराश्यानिरतो भव।
धर्मसौख्यच्छिदाशा ते, तरुच्छेदः फलार्थिनाम्॥२३॥

भाविन्या विपदो यूयं, विपन्नाः किं बुधाः शुचा।
सर्पशंकाविभीताः किं, सर्पास्ये करदायिनः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थौ--बुधाः=हे समझदार पुरुषो, यूयम्=तुम सब, भाविन्या=भविष्य में होने वाली, विपदः=विपत्ति के, शुचा=शोक से, विपन्ना.=दु.खी, किं=क्यों, भवथ=होते हो, नीतिः-यतः=क्योंकि, सर्पशंकाविभीताः=सर्प के डर से भयभीत, जनाः=मनुष्य, सर्पास्ये=सर्प के मुह में, करदायिनः=हाथ देने वाले, भवन्ति कि=होते हैं क्या ? न=नहीं॥१६॥

भावार्थ.—श्रीदत्त नौका पर बैठे हुए लोगों को समझाता है कि हे समझदार लोगो ! जो मनुष्य सर्प से डरता है वह उसके मुख में हाथ कभी नहीं देता है, उसी प्रकार यदि आप लोग भी विपत्ति से डरते हैं तो आपका भी कर्त्तव्य है कि आप भी विपत्ति के मुख स्वरूप शोक का परित्याग करदें ॥ १६ ॥

विपदस्तु प्रतीकारो, निर्भयत्वं न शोकिता ॥
तच्च तत्त्वविदामेव, तत्त्वज्ञाः स्यात तद्बुधाः ॥१७॥

अन्वयार्थौ—तु=और, बुधा =हे समझदारो, विपद.=विपत्ति के, प्रतीकार'=दूर करने का उपाय, निर्भयत्वं=निर्भय-पना, एव=ही, अस्ति=है, शोकिता=शोक करना, न=नहीं, च=और, तत्=वह निर्भयपना, तत्त्वविदाम्=तत्त्वज्ञानियों के, एव=ही, भवति=होता है, अतएव, यूयं=तुम सब, तत्त्वज्ञा.=तत्त्वज्ञानी, स्यात=होवो ॥ १७ ॥

भावार्थ.--हे समझदारो ! शोक करने से विपत्ति नष्ट नहीं

होती है, किन्तु उसके लिये निर्भयता की जरूरत होती है और वह निर्भयता तत्त्वज्ञानियों के ही होती है, इस लिये तुमको भी तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर निर्भय होना चाहिये ।। १७ ।।

इत्यप्यबोधयत्सोऽय, वणिक्पोताश्रितान्सुधीः ।
तत्त्वज्ञानं हि जीवानां, लोकद्वयसुखावहम् ।। १८ ।।

अन्वयार्थौ—इति = इस प्रकार, सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह, सुधीः = चतुर, वणिक् = श्रीदत्त वैश्य, पोताश्रितान् = नौका में वैठे हुए, जनान् = मनुष्यों को, अपि = भी, अबोधयन् = समझता हुआ, हि = निश्चय से, तत्त्वज्ञानम् = तत्त्वज्ञान, जीवनाम् = प्राणियों के, लोकद्वयसुखावहम् = इस लोक और परलोक में सुख को देने वाला, भवति = होता है ॥ १८ ॥

भावार्थः—तत्त्व ज्ञान से ही मनुष्यों को इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति होती है, इस प्रकार श्रीदत्त ने नौका पर वैठे हुए लोगों को उपदेश दिया ।। १८ ।।

तावता नावि नष्टाया, दृष्टोऽभूत्कूपखण्डकः ।
सत्यायुपि हि जायेत, प्राणिनां प्राणरक्षणम् ।। १९ ।।

अन्वयार्थौ—तावता = इतने में ही, नावि = नौका के नष्टायाम्—नष्ट होने पर, कः = कोई, कूप खंडकः = नौका के बीच में हवा रोकने के लिये वस्त्र वन्धन का वल्ला, दृष्टः अभूत = दिखलाई पड़ा । नीति.—हि = क्योंकि, आयुपि सति = आयु के होने पर, प्राणिनाम् = प्राणियों के, प्राणरक्षणम् = प्राणों की रक्षा, जायेत = होती ही है ।। १९ ।।

भावार्थः—जब तक प्राणी की आयु शेष रहती है, और अकाल मृत्यु आदि नहीं होनी होती है, तब तक उसकी रक्षा के साधन भी अपने आप ही मिलते रहते हैं । चूंकि श्रीदत्त की भी आयु अभी शेष थी. अतएव नौका के नष्ट होजाने पर एक प्रस्तूप का टुकड़ा उसके भी हाथ लग गया ॥ १६ ॥

श्रीदत्तस्तु तमारुह्य, प्रासदद्द्वीपसंश्रितः ।
राज्यभ्रष्टोऽपि तुष्टः स्याल्लब्धप्राणो हि जन्तुकः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—तु = और, श्रीदत्तः = श्रीदत्त, तम् = उस बल्ले पर, आरूह्य = चढ़कर, द्वीपसंश्रितः सन् = किसी द्वीप को प्राप्त होता हुआ, प्रासदत् = प्रसन्न हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, राज्यभ्रष्टः = राज्यभ्रष्ट, अपि = भी, जन्तुकः = मनुष्य, लब्धप्राणः = बच गये हैं प्राण जिसके ऐसा, सन् = होता हुआ, तुष्टः = प्रसन्न, स्यात् = होता है ।

भावार्थः—श्रीदत्त सेठ उस नौका की लकड़ी के टुकड़े पर बैठ कर धीरे २ किसी एक द्वीप के पास पहुच कर मारे हर्ष के फूला न समाया । क्योंकि मनुष्य राज्य से भले ही च्युत होजावे किन्तु यदि उसके प्राणों की रक्षा हो जावे तो उसे बहुत ही हर्ष होता है, अतएव श्रीदत्त ने भी उस धनके नाश की जरा भी परवाह न कर अपनी प्राण रक्षा से बहुत आनन्द माना ॥ २० ॥

नष्टशेवधिरप्येष-मृष्टमेवमतर्कयत् ।
दुःखार्थोऽपि सुखार्थो हि तत्त्वज्ञानधने सति ॥ २१ ॥

अन्वयार्थौ—नष्टशेवधि = समुद्र में डूब गया है, धन जिसका ऐसा, अपि = भी, एषः = यह श्रीदत्त, मृष्टं यथा

स्यात्तथा = आकुलता से रहित, एवं = वक्ष्यमाण रीति से, अतर्कयत् = विचारने लगा। नीति—हि = क्योंकि, तत्त्वज्ञानधने सति = तत्त्वज्ञान रूपी धनके, होने पर, दुःखार्थः = दुःखकारक पदार्थ, अपि = भी, सुखार्थः = सुख का हेतु, भवति = हो जाता है ॥ २१ ॥

भावार्थः—तत्त्वज्ञान के होने पर दुःखोत्पत्ति के हेतु भूत वस्तु भी वैराग्योत्पत्ति आदि का कारण बन सुखदायक होजाती है, तदनुसार तत्त्वज्ञानी श्रीदत्त ने भी सारी धन सम्पत्ति के जल मग्न होजाने पर भी वस्तु स्वरूप का अनुभव कर निम्न प्रकार उत्तम विचार ही किया॥२१॥

तृष्णाग्निदह्यमानस्त्वं, मूढात्मन्किं नु मुह्यसि।
लोकद्वयहितध्वंसोर्न हि तृष्णारुषोर्भिदा ॥ २२ ॥

अन्वयार्थौ—मूढात्मन् = हे मूर्ख आत्मा, तृष्णाग्निदह्यमानः = तृष्णा रूपी अग्नि से जलता हुआ, त्वं = तू, किं नु = क्यों, मुह्यसि = मोहित होता है? हि = क्योंकि, लोकद्वयहितध्वसोः = इस लोक और परलोक सम्बन्धी हित को नष्ट करने वाले, तृष्णारुषोः = तृष्णा और क्रोध में, भिदा = भेद, न अस्ति = नहीं है ॥ २२ ॥

भावार्थः—हे आत्मन्! जिस प्रकार क्रोध ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही सुखों पर पानी फेर देता है, उसी प्रकार यह तृष्णा रूपी अग्नि भी तेरे उभय लोक को नष्ट करने वाली है, यह जानकर भी तू उसी तृष्णा के वशीभूत होकर पर वस्तुओं में मोहित हो रहा है, यह सर्वथा अनुचित है ॥ २२ ॥

लोकद्वयहितायात्मन्, नैराश्यनिरतो भव।
धर्मसौख्यच्छिदाशा ते, तरुच्छेदः फलार्थिनाम् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—आत्मन्=हे आत्मा, त्वम्=तू, लोकद्वय-हिताय=दोनों लोकों के हित के लिये, नैराश्यनिरतः=विषय-भोग की तृष्णा से रहित, भव=होओ । यतः=क्योंकि, ते=तेरी, आशा=विषय भोगों की इच्छा, फलार्थिनाम्=उसी वृक्ष से फलों की चाह करने वालों के, तरुच्छेद =उसी वृक्ष के काटने के समान, धर्मसौख्यच्छित्=धर्म और सुख को नष्ट करने वाली, अस्ति=है ॥ २३ ॥

भावार्थ.—हे आत्मन् ! जो मनुष्य जिस वृक्ष से फलों की चाह करता है, उसके द्वारा उसी वृक्ष का काटना जिस प्रकार अपनी इच्छा पर ही कुठाराघात करना है, उसी प्रकार धर्म और सुख के हेतु विषयाभिलाष करना भी धर्म और सुख का नाश कर देना ही है, इसलिये तुझे यदि उभयलोक के सुख की चाह है तो विषयाभिलाष का परित्याग कर ॥ २३ ॥

संसारासारभावोऽय–महोसाक्षात्कृतोऽधुना ।
यस्मादन्यदुपक्रान्त–मन्यदापतितं पुनः ॥ २४ ॥

अन्वयार्थौ—अहो=आश्चर्य की बात है, यत्=कि, अधुना=इस समय, मया=मैंने, अयम्=यह, संसारासार-भावः=संसार की असारता, साक्षात्कृत.=प्रत्यक्ष करली है । यस्मात्=क्योंकि, अन्यत्=कुछ, उपक्रान्तम्=प्रारम्भ किया था, पुन.=और, अन्यत्=और कुछ, आपतितम्=आ पड़ा है ॥ २४ ॥

भावार्थ.—हे आत्मन् ! इस संसार की असारता का अनुभव तो तुझे स्वयं ही हो चुका है, क्योंकि तूने जिस धन–सचय द्वारा नाना

प्रकार के सांसारिक सुखों के भोगने का विचार किया था, वही परिश्रम से कमाया हुआ धन देखते देखते ही नष्ट होगया। अतएव इस विषयाभिलाष का परित्याग कर आत्म कल्याण में लगना ही सर्वोत्तम है॥२४॥

अतएव हि योगीन्द्रा—अपीन्द्रत्वार्हसम्पदम्।
त्यक्त्वा तपांसि तप्यन्ते, मुक्त्यै तेभ्यो नमोनमः॥२५॥

अन्वयार्थौ—अतएव=इसीलिये, योगीन्द्राः=मुनिराज जैसे महापुरुष, इन्द्रत्वार्हसम्पदम्=इन्द्रपने के योग्य विभूति को, अपि=भी, त्यक्त्वा=छोडकर, मुक्त्यै=मुक्ति के हेतु, तपांसि=तपों को, तप्यन्ते=तपते हैं, तेभ्यः=उनके लिये, नमोनमः=बारम्बार नमस्कार, अस्तु=हो॥ २५॥

भावार्थ—जब कि संसार असार और इसके अन्तर्गत वस्तुएँ नश्वर और दुःखदायक हैं, इसीलिये समझदार प्राणी इन्द्र, अहमिन्द्र और चक्रवर्ती आदि की विशाल विभूति पर भी पादप्रहार करें, मुनिपद धारण कर मुक्ति के हेतु तप तपते हैं और मोही जन उनके चरणों में सिर रगडते २ भी छुटकारा नहीं पाते हैं॥ २५॥

इत्यूहोऽपि स दृष्टस्य, कस्यचित्स्वार्तिमूचिवान्।
मध्ये मध्ये हि चापल्य—मामोहादपि योगिनाम्॥२६॥

अन्वयार्थौ—इत्यूहः=पूर्वोक्त विचार करने वाला, अपि=भी, सः=वह श्रीदत्त वैश्य, दृष्टस्य=देखे हुए, कस्यचित्=अपरिचित किसी पुरुष के, अग्रे=आगे, स्वार्तिम्=अपनी पीड़ा को, ऊचिवान्=कहता हुआ। नीति–हि=क्योंकि, आमोहात्=मोहनीय कर्म के उदय-पर्यन्त, मध्ये मध्ये=

बीच बीच मे, योगिनाम् = मुनीश्वरों के, अपि = भी, चापल्यम् = चपलता = जायते = होजाती है ॥ २६ ॥

भावार्थः—जब तक मोहनीय कर्म का प्रबल उदय रहता है तब तक जन साधारण की तो बात ही क्या, किन्तु मुनीश्वरों के भी चञ्चलता उत्पन्न होती रहती है, अतएव श्रीदत्त के भी मोह का प्रबल उदय था, जिससे यद्यपि उसने पहिले बहुत बिरक्ततापूर्ण विचार किया था, किन्तु जिस समय एक अपरिचित जन (धर विद्याधर) पास आया तब उसने अपनी सारी हकीकत उससे कह सुनाई ॥ २६ ॥

याद्दच्छिक इवायात--स्तत्कृच्छ्, सोऽपि शुश्रुवान् ।
संसृतौ व्यवहारस्तु, न हि मायाविवर्जितः ॥२७॥

अन्वयार्थौ—तु = और, याद्दच्छिकः इव = विना किसी प्रयोजन के ही मानो स्वेच्छानुसार, आगतः = आया हुआ, सः = वह विद्याधर, अपि = भी, तत्कृच्छ्म् = इस श्रीदत्त के दुख को, शुश्रुवान् = सुनता हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, संसृतौ = संसार में, व्यवहार = व्यवहार, मायाविवर्जितः = छल-कपट रहित, न = नहीं, अस्ति = है ॥ २७ ॥

भावार्थ —ससार के अन्दर एक दूसरे में परस्पर जो कुछ भी व्यवहार होता है, उसमें प्रायः मायाचार का कुछ न कुछ अश तो अवश्य ही रहता है, तदनुसार श्रीदत्त के पास किसी अज्ञात प्रयोजन से आया हुआ वह अपरिचित मनुष्य भी शिष्टाचार-परिपालन के हेतु उसकी करुण कहानी को सुनने लगा ॥ २७ ॥

श्रुत्वा मिषेण केनापि, नीत्वा राजतभूधरम् ।
स्वागतः कारणं सर्व—मभाणीत्स वणिक्पतेः॥२८ ॥

अन्वयार्थौ—ततः = फिर, स = वह पुरुष, श्रुत्वा = सुनकर, केन = किसी, मिषेण = बहाने से, तम् = उस श्रीदत्त को, राजत-भूधरम् = विजयार्ध पर्वत पर, नीत्वा = लेजाकर, स्वागतेः = अपने आने के, सर्वम् = सब, कारणम् = कारण को, वणिक्पतेः = श्रीदत्त वैश्य से, अभाणीत् = कहता हुआ ॥ २८ ॥

भावार्थ—वह अभ्यागत जन, श्रीदत्त द्वारा कथित वृत्तान्त को आद्योपान्त सुनकर, किसी बहाने से उसे विजयार्ध पर्वत पर लेगया और वहां पहुंचकर उसने अपने आने का कारण उस श्रीदत्त से निम्न प्रकार कहा ॥ २८ ॥

विजयार्धगिरावस्ति, दक्षिणश्रेणिमण्डने ।
गान्धारविषये ख्याता, नित्यालोकाह्वया पुरी ॥२९॥

अन्वयार्थौ—विजयार्धगिरौ = विजयार्ध पर्वत पर, दक्षिण-श्रेणिमण्डने = दक्षिणश्रेणि के भूषणस्वरूप, गान्धारविषये = गान्धार देश में, नित्यालोकाह्वया = नित्यालोका नामक, पुरी = नगरी, अस्ति = है ॥ २९ ॥

भावार्थः—भरतक्षेत्र के विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी की नगरियों में एक नित्यालोका नामक प्रसिद्ध नगरी है । (नोट —यहां आजाने पर चक्रवर्ती की दिग्विजय आधी होजाती है, इससे इसे विजयार्ध कहते हैं) ॥ २९ ॥

गरुडवेगनामास्यां, राजा राज्ञी तु धारिणी ।
पुत्री गन्धर्वदत्ताम्--दभूत्सापि यवीयसी ॥ ३० ॥

११

अन्वयार्थौ—अस्याम् = इस नगरी में, गरुडवेगनामा = गरुडवेगनामक, राजा = राजा, तु = और, धारिणी = धारिणी नामक, राज्ञी = रानी, अस्ति = है, च = और, तयोः = उन दोनों के, गन्धर्वदत्ता = गन्धर्वदत्तानामक, पुत्री = पुत्री, अभूत् = हुई, च = और, सा = वह पुत्री, यवीयसी = अतिशय जवान, अपि = भी, अभूत् = होगई है ॥ ३० ॥

भावार्थ —उस नगरी का राजा गरुडवेग और रानी धारिणी नामक हैं और उन दोनों के गन्धर्वदत्ता नामक एक जवान कन्या है ॥ ३० ॥

वीणाविजयिनो भार्या, राजपुर्यामियं भवेत् ।
भूमाविति मुहूर्तज्ञा—जन्मलग्ने व्यजीगणन् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थौ—इयम् = यह पुत्री, भूमौ = पृथ्वी पर, राजपुर्याम = राजपुरी नगरी में, वीणाविजयिन = वीणा मे विजय पाने वाले किसी युवक की, भार्या = धर्मपत्नी, भवेत् = होगी, इति = इस प्रकार, मुहूर्तज्ञा = ज्योतिषी लोग, अस्याः = इस पुत्री के, जन्मलग्ने = जन्म समय मे, व्यजीगणन् = कहते हुए॥३१॥

भावार्थ —जिस समय यह कन्या पैदा हुई थी, उस समय ज्योतिषियों ने कहा था कि राजपुरी नगरी में जो कोई वीणा बजाने में इस पुत्री को हरा देवेगा, वही भूमिगोचरी मनुष्य इसका स्वामी होगा ॥ ३१ ॥

तदर्थं पार्थिवः सार्ध--मेकान्ते कान्तया तया ।
मन्त्रयित्वा तदन्ते मा--ममन्दप्रीतिरादिशत् ॥ ३२ ॥

कुलक्रमागता मैत्री, श्रीदत्तेनास्ति नस्ततः ।

गत्वा सत्वरमत्रैव, सोऽयमानीयतामिति ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थौ—तदर्थम् = उस कार्य के लिये, पार्थिवः = राजा, एकान्ते = एकान्त स्थान में, तया कान्तया सार्धम् = उस धारिणी रानी के साथ, मन्त्रयित्वा = विचारकर, तदन्ते = उसके बाद, अमन्दप्रीतिः सन् = अत्यन्त आनन्दित होता हुआ, श्रीदत्तेन सह = श्रीदत्त के साथ, नः = हमारी, कुलक्रमागता = कुल परम्परा से आई हुई, मैत्री = मित्रता, अस्ति = है, ततः = इसलिये, सत्वरम् = शीघ्र, गत्वा = जाकर, सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह श्रीदत्त सेठ, अत्र = यहां पर, एव = ही, आनीयताम् = लाया जाय इति = इस प्रकार, माम् = मुझको, आदिशत् = आज्ञा देता हुआ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

भावार्थ —पुत्री के विवाह योग्य होजाने पर राजा गरुडवेग ने अपनी रानी धारिणी के साथ एकान्त स्थान में उसके विवाहार्थ विचार कर खुश होते हुये मुझसे कहा कि—'श्रीदत्त के साथ मेरी बहुत पुरानी मित्रता है। उसके द्वारा यह कार्य आसानी से हो सकेगा' इस लिये तुम जाकर उसे शीघ्र मेरे पास लिवा लाओ ॥ ३२॥३३॥

भवन्तं परतन्त्रोऽहं-नौभ्रंशभ्रान्तिमावहन् ।

नाम्ना धरः कृतेर्भूम्ना, पुनरानीतवानिति ॥३४॥

अन्वयार्थौ—पुनः = और, नाम्ना = नाम से, धरः = धर, परतंत्रः = पराधीन नौकर, अहम् = मैं, कृतेः = कार्य की, भूम्ना = गुरुता से, नौभ्रंशभ्रान्तिम् = नौका के नाशके भ्रमको, आवहन्

=करता हुआ, भवन्तम्=आपको, अत्र=यहां, आनीतवान्=लाया हूँ॥ ३४॥

भावार्थ—राजा का धर नामक पराधीन नौकर मैं नौका डूबने के भ्रममात्र को करता हुआ पूर्वोक्त आवश्यक कार्य से ही आपको यहां लाया हूं। इस प्रकार 'धर' ने श्रीदत्त को लाने का कारण सुनाया॥ ३४॥

श्रीदत्तोऽपि तदाकर्ण्य, तुतोष सुतरामसौ।
दुःखस्यानतरं सौख्य—मतिमात्रं हिं देहिनाम्॥३५॥

अन्वयार्थौ—असौ=यह, श्रीदत्त=श्रीदत्त, अपि=भी, तत्=उस समाचार को, आकर्ण्य=सुनकर, सुतराम्=अत्यन्त, तुतोष=संतुष्ट हुआ। नीति—हि=क्योंकि, देहिनाम्=जीवों के, दुःखस्य=दुःख के, अनन्तरम्=बाद, अतिमात्रम्=अत्यन्त, सौख्यम्=सुख, भवति=होता है॥ ३५॥

भावार्थः—सुखके सद्भाव में मनुष्य को जो अन्य सुख का लाभ होता है उसकी उसे विशेषता मालूम नहीं होती है, किन्तु दुःख के समय सुख का लाभ होने पर जो आनन्द होता है वह अनिर्वचनीय होता है, तदनुसार धन के नाश से दुखी श्रीदत्त भी धनके नाश को भ्रान्तिमात्र जानकर अपार आनन्द को प्राप्त हुआ॥२५॥

असुखायत वैश्योऽपि, खेचरेन्द्रावलोकनात्।
मित्रं धात्रीपतिं लोके,कोऽपरः पश्यतः सुखी॥३६॥

अन्वयार्थौ—वैश्यः=श्रीदत्त वैश्य, अपि=भी, खेचरेन्द्रावलोकनात्=विद्याधरों के स्वामी के देखने से, असुखायत=

आनन्दित हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, लोके=संसार में, मित्रम्=मित्रस्वरूप, धात्रीपतिम्=राजा को, पश्यतः=देखने वाले की अपेक्षा, अपरः=दूसरा, कः=कौन, सुखी=सुखी, भवति=होसकता है। किन्तु, कोऽपि न=कोई भी नहीं ॥३६॥

भावार्थः—इस संसार में जिसका मित्र राजा होता है उससे बढ़कर सुखी कोई दूसरा नहीं माना जाता है, तदनुसार श्रीदत्त वैश्य भी अपने अभिन्न हृदय मित्र गरुडवेग राजा को देखकर अपूर्व सुख को प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥

नभश्चराधिपः पश्चा–त्तदायत्तां सुतां व्यधात् ।

प्राणेष्वपि प्रमाणं यत्, तद्धि मित्रमितीष्यते ॥३७॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्=पीछे, नभश्चराधिप =विद्याधरों का राजा गरुडवेग सुताम्=अपनी सुपुत्री को, तदायत्ताम्=उस श्रीदत्त के आधीन, व्यधात्=करता हुआ। नीति –हि=क्योंकि यत्=जो, प्राणेषु=प्राणों के विषय में, अपि=भी, प्रमाणम्=प्रमाण, स्यात्=हो, तत्=वह, मित्रम्=मित्र, इष्यते=कहलाता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ:—मित्र के हेतु जो अपने प्राणों को भी निछावर करने को कटिबद्ध रहता हो वही वास्तविक मित्र कहलाने का पात्र होसकता है। अतएव गरुडवेग ने भी अपने विश्वस्त मित्र श्रीदत्त को योग्य वर के साथ विवाहार्थ अपनी सपुत्री सौंपते हुये लेशमात्र भी संकोच नहीं किया ॥ ३७ ॥

श्रीदत्तं सत्वरं तस्मात, खेचरेशो न्यवर्तयत् ।

अंगजायां हि सूत्याया-मयोग्यं कालयापनम् ॥३८॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, खेचरेशः = विद्याधराधिपति, श्रीदत्तम् = श्रीदत्त को, तस्मात् = उस विजयार्ध से, सत्वरम्—शीघ्र, न्यवर्तयत् = लौटाता हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, अगजायाम् = पुत्री के, सूत्यायाम् = जवान होजाने पर, कालयापनम् = विवाह के बिना समय बिताना, अयोग्यम् = अनुचित, भवति = होता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—विवाह योग्य होजाने पर पुत्री के विवाह मे देर करना अनुचित है इसी विचार से विद्याधराधिपति गरुडवेग ने इच्छानुसार विवाह कर देने की प्रेरणा कर श्रीदत्त को अपने स्थान से शीघ्र वापिस कर दिया ॥ ३८ ॥

गृहस्थानां हि तद्दौस्थ्य—मतिमात्रमरुन्तुदम ।
कन्यानामप्रमादेन, रक्षणादिसमुद्भवम् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थौ—हि = निश्चय से, कन्यानाम् = कन्याओं के, अप्रमादेन = सावधानी से (दोषादिरहित) रक्षणादिसमुद्भवम् = रक्षा आदि से उत्पन्न, तत् = वह, दौस्थ्यम् = दुःख, गृहस्थानाम् = गृहस्थों के, अतिमात्रम् = अत्यन्त, अरुन्तुदम् = मानसिक दुःख-जनक, भवति = होजाता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—क्योंकि सचेत और अप्रमादी होकर कन्याओं के सदाचार की रक्षा और पालन-पोषण आदिमें गृहस्थों को जिन यातनाओं का अनुभव करना पड़ता है वे उनके प्राय मर्मभेदक हुआ करती है ॥ ३६ ॥

तयामा स्वपुरं प्राप्य, श्रीदत्तोऽप्यथ तत्कथाम् ।

पत्न्याः प्रकटयामास, स्त्रीणामेव हि दुर्मतिः ॥ ४० ॥

अन्वयार्थौ-अथ = इसके बाद, श्रीदत्त = श्रीदत्त, अपि = भी तया अमा = उस पुत्री के साथ, स्वपुरम् = अपने नगर को, प्राप्य = प्राप्त होकर, तत्कथाम् = उस पुत्री सम्बन्धी कथाको, पत्न्याः = अपनी स्त्री से, प्रकटयामास = कहता हुआ । नीति —हि = क्योंकि, स्त्रीणाम् = स्त्रियों के, दुर्मतिः = दुर्बुद्धि, एव = ही, भवति = होती है ॥ ४० ॥

भावार्थ —स्त्री का स्वभाव बहुत कुटिल होता है इसलिये 'यह किसी प्रकार की अन्यथा आशंका न करे, इस विचार से श्रीदत्त ने कन्या के साथ अपने घर पहुँचते ही उसका सारा समाचार अपनी धर्मपत्नी से कह सुनाया ॥ ४० ॥

वीणाविजयिनो योग्या, भोग्या पुत्री ममेति सः ।

कटके घोषयामास, राजानुमतिपूर्वकम् ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थौ—सः = वह श्रीदत्त, मम = मेरी, योग्या = सर्वगुणसम्पन्न, पुत्री = पुत्री, वीणाविजयिनः = उसके साथ वीणा में जीतने वाले के, भोग्या = भोगने योग्य (स्त्री), स्यात् = होगी, इति = इस प्रकार, राजानुमतिपूर्वकम् = राजा की सम्मतिपूर्वक, कटके = नगरमें, घोषया मास = घोषणा कराता हुआ ॥ ४१ ॥

भावार्थ —श्रीदत्त सेठ ने प्रकृत कार्य के हेतु राजा काष्टांगार की सम्मति लेकर ' मेरी सर्वगुणसम्पन्न सपुत्री को जो वीणा बजाने में

'परास्त कर देगा वही इसका पति होगा' इस प्रकार समस्त राजपुरी में घोषणा करादी ॥ ४१ ॥

अकुतोभीतिता भूमे-र्भूपानामाज्ञयान्यथा।
आस्तामन्यत्सुवृत्तानां, वृत्तं च न हि सुस्थितम्॥ ४२ ॥

अन्वयार्थौ—हि = क्योंकि, भूपानाम् = राजाओं की, आज्ञया = आज्ञा से, भूमेः मध्ये = भूमण्डल पर, अकुतोभीतिता भवति = कहीं से भी भय नहीं रहता है। च = और, अन्यथा = राजा की आज्ञा के विपरीत प्रवृत्ति करने पर, अन्यत् = और बात तो, आस्ताम् = दूर रहे, किन्तु, सुवृत्तानाम् = व्रतधारी पुरुषों का, वृत्तम् = सदाचार, च = भी, सुस्थितम् = स्थिर, न तिष्ठति = नहीं रहता है ॥ ४२ ॥

भावार्थ—स्वकीय कार्य के हेतु राजा की आज्ञा ले लेने पर मनुष्यों को कहीं से किसी प्रकार का खतरा नहीं रहता है। किन्तु उनकी आज्ञा न लेने पर, और आपत्तियों की तो बात ही क्या, किन्तु मनुष्यों का वृत्ताचरण भी स्थिर नहीं रह पाता है॥ ४२ ॥

वीणामण्डपमासेदु-स्तावता धरणीभुजः।
स्त्रीरागेणात्र के नाम, जगत्यां न प्रतारिताः॥ ४३ ॥

अन्वयार्थौ—तावता = घोषणा के सुनते ही, धरणीभुज = राजा लोग, वीणामण्डपम् = वीणा बजाने के हेतु बनाये गये मण्डप में, आसेदुः = आये। नीतिः—हि क्योंकि, अत्र = इस, जगत्याम् = लोक में, स्त्रीरागेण = स्त्रियों के राग से, के = कौन,

न प्रतारिता = नहीं ठगाये गये हैं, किन्तु, सर्वे प्रतारिताः = सभी ठगाये गये हैं ॥ ४३ ॥

भावार्थः —लोक मे स्त्रियो के मोह से प्राय सभी ठगाये जाते हैं। यहां तक कि ब्रह्मा, विष्णु, और महेश आदि महापुरुष भी उनके चंगुल से नहीं बचे हैं, अतएव श्रीदत्त के द्वारा घोषित घोषणा के सुनते ही दूर दूर के राजा महाराजा, गन्धर्वदत्ता को जीतने की चाह से वीणामण्डप में आडटे ॥ ४३ ॥

कन्यायाः परिवादिन्या–पराजेषत पार्थिवाः ।
अपुष्कला हि विद्या स्या–दवज्ञैकफला क्वचित् ॥४४॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, पार्थिवा = सब राजा, कन्यायाः = गन्धर्वदत्ता की, परिवादिन्याम् = परिवादिनी नामक वीणा मे, पराजेषत = हार गये। नीति.—हि = क्योंकि, अपुष्कला = अपूर्ण, विद्या = ज्ञान, क्वचित् = कहीं पर, अवज्ञैकफला = अपमान ही है फल जिसका ऐसा, स्यात् = होता है ॥ ४४ ॥

भावार्थः—अपूर्ण विद्या कहीं न कहीं पर अपमान जनक अवश्य होती है, अतएव जो बडे बड़े राजा महाराजा गन्धर्वदत्ता को जीतकर उससे विवाह करने की धुन मे मस्त होकर आये थे उन्हें गन्धर्वदत्ता ने परिवादिनी नामक वीणा बजाकर इस प्रकार परास्त किया कि वे झख मारते रह गये ॥ ४४ ॥

जीवन्धरकुमारस्तु, घोषवत्यां जिगाय ताम् ।
अनवद्या हि विद्या स्या–ल्लोकद्वयफलावहा ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थौ—तु = किन्तु, जीवन्धरकुमारः = जीवन्धर

कुमार, घोषवत्याम्=घोषवती नामक वीणामे, ताम्=उस कन्या को, जिगाय=जीतता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, अनवद्या=निर्दोष, विद्या=विद्या, लोकद्वयफलावहा—इस लोक और परलोक मे उत्तम फल देने वाली, स्यात्=होती है॥ ४५॥

भावार्थ—भले प्रकार अभ्यस्त विद्यायें ऐहिक और पारलौकिक कार्यों को अवश्य सिद्ध करतीं हैं, अतएव यद्यपि वीणा बजाने में अपरिपक्व बडे २ राजा महाराजा तो हार गये पर वीणावादनकुशल जीवन्धर ने घोषवती नामक वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ता को क्षणमात्र में परास्त कर दिया॥ ४५॥

पराजय जयाच्छ्लाघ्यं—मत्वा सापि तमासदत्।
अन्तिकं कृतपुण्यानां, श्रीरन्विष्य हि गच्छति॥ ४६॥

अन्वयार्थौ—सा=वह कन्या, अपि=भी, पराजयम्=हार को, जयात्=जीत से, श्लाघ्यम्=उत्तम, मत्वा=मान कर, तम्=उस जीवन्धर को, आसदत्=प्राप्त हुई। नीतिः—हि=क्योंकि, श्री=लक्ष्मी, अन्विष्य=खोज कर, कृतपुण्यानाम्=पुण्यात्मा जनों के, अन्तिकम्=समीप में, गच्छति=प्राप्त होती है॥ ४६॥

भावार्थः—लक्ष्मी, भाग्यवानों के समीप स्वयं तलाश कर पहुँच जाती है, अतएव गन्धर्वदत्ता भी "यदि मैं जीत जाती तो ऐसे पुण्यात्मा पति का लाभ न होता" ऐसा विचार कर पराजय को भी जीत से उत्तम मान जीवन्धर के समीप आई॥ ४६॥

आमुमोचाथ मोचोरुः, स्रजं जीवकवक्षसि ।
कुर्वन्तु तप इत्येवं–सर्वेभ्यो ब्रुवतीव सा ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, मोचोरु = केलेके समान सुन्दर और पुष्ट हैं जाँघे जिसकी ऐसी, सा = वह गन्धर्वदत्ता, यूयम् = तुम सब, तप. = तपको, कुर्वन्तु = करो, इत्येवम् = इस प्रकार, सर्वेभ्य = सब राजाओं से, ब्रुवती = कहती हुई, इव = ही, जीवकवक्षसि = जीवन्धर के गले में, स्रजम् = वरमाला को, आमुमोच = पहिनाती हुई ॥ ४७ ॥

भावार्थ —सुयोग्य कन्या सौभाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त हुआ करती है—सर्वसाधारण को नहीं, इसी बात को प्रगट करते हुये ही मानो गन्धर्वदत्ता ने अन्य राजाओं की उपेक्षाकर जीवन्धरस्वामी के गले में वरमाला डालदी ॥ ४७ ॥

काष्ठांगारस्तु तद्वीक्ष्य, क्षितिपान्समधुक्षयत् ।
अन्याभ्युदयखिन्नत्वं, तद्धि दौर्जन्यलक्षणम् ॥ ४८ ॥

क्रयविक्रययोर्योग्यः, कुप्यानां वैश्यसूनुकः ।
कथं लभेत स्त्रीरत्न–शस्तं वस्तु हि भूभुजाम् ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थौ—तु = और, काष्ठांगार = काष्ठांगार, तत् = उस वरमाला के डालने को, वीक्ष्य = देखकर, क्षितिपान् = अभ्यागत राजाओं को, इति = इस प्रकार, समधुक्षयत् = भड़काता हुआ । नीतिः = हि = क्योंकि, अन्याभ्युदयखिन्नत्वम् = दूसरे के उत्कर्ष से जलना, एव = ही, दौर्जन्यलक्षणम् = दुर्जनता का चिन्ह, अस्ति = है। कुप्यानाम् = सुवर्ण और चांदी के सिवाय

अन्य धातुओं के वर्तन आदि के, क्रयविक्रययो = खरीदने और बेचने के, योग्य = योग्य, वैश्यसूनुक: = क्षुद्र वैश्यपुत्र, स्त्री रत्नम् = रत्न स्वरूप उत्तम स्त्री को, कथम् = कैसे, लभेत् = पा सकता है। नीति.—हि = क्योंकि, शस्तम् = उत्तम, वस्तु = वस्तु, भूभुजाम् = राजाओं की, भवति = होती है ॥ ४८ ॥ ४६ ॥

भावार्थ.—दूसरों के उत्कर्ष को देखकर जलना ही दुर्जनता का अव्यभिचारी लक्षण है, अतएव जीवन्धर की वरमाला की प्राप्ति को सहन न कर दुष्ट काष्ठांगार ने भी 'राज्यस्थित उत्तमोत्तम वस्तुयें चाहे वे किसी के अधिकार में क्यों न हों किन्तु "रत्नहारी तु पार्थिवः इस नीति के अनुसार उन पर राजाओं का ही अधिकार होता है, अतएव यह स्त्री रत्न भी राजा द्वारा बलात् ग्रहण करने योग्य है। उसे यह वर्तन आदि का क्रेता और विक्रेता बनिये का छोरा, हम क्षत्रिय राजाओं के होते हुये विशाल सभा के बीच से वर लेजावे यह कहां तक सह्य हो सकता है ?" इत्यादि कह कर सभास्थित शेष राजाओं को जीवन्धर के प्रतिकूल भड़का दिया ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

इति संधुक्षिताश्चक्रुः, स्वामिना तेऽपि संयुगम् ।
प्रकृत्या स्यादकृत्ये धी-र्दुःशिक्षायां तु किम्पुनः ॥५०॥

अन्वयार्थौ—इति = पूर्वोक्त रीति से, संधुक्षित = भड़काये गये, ते = वे राजा लोग, अपि = भी; स्वामिना सह = जीवन्धर स्वामी के साथ, संयुगम् = युद्ध को, चक्रु = करने लगे। नीतिः—धीः = बुद्धि, अकृत्ये = खोटे कार्य में, प्रकृत्या = स्वभाव से, स्यात् = प्रवृत्त होती है, दुःशिक्षायाम् = खोटी शिक्षा मिलने पर, तु = तो, किम् = कहना ही क्या है ? ॥ ५० ॥

भावार्थ.—जब कि बुद्धि खोटे कार्यों में अपने आप ही प्रवृत्त होती है तब खोटी शिक्षा के मिलने पर तो प्रवृत्त होगी ही। अतएव काष्ठांगार के भड़काने से अन्य मूर्ख राजाओं ने भी क्रुद्ध होकर जीवन्धर के साथ युद्ध छेड़ दिया॥ ५० ॥

पराजेषत भूपास्ते, धन्विनां चक्रवर्तिनः।
अलं काकसहस्रेभ्य-एकैव हि दृषद्भवेत्॥ ५१ ॥

अन्वयार्थौ—ते = वे, भूपाः = राजा, धन्विनाम् = धनुर्धारियों के, चक्रवर्तिनः = चक्रवर्ती, जीवन्धरात् = जीवन्धर से पराजेषत = हार गये। नीतिः—हि = क्योंकि, काकसहस्रेभ्यः = हजारों कौओं के उड़ाने के लिये, एका = एक, एव = ही, दृषद् = पत्थर, अलम् = पर्याप्त, भवेत् = होता है॥ ५१ ॥

भावार्थ:—जिस प्रकार हजारों कागलों को उड़ाने के लिये एक ही पत्थर का फेंकना पर्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार सैकड़ों भी राजा एक जीवन्धर के सामने क्षणमात्र भी न टिक सके और जान बचाकर पीठ दिखाते हुए भाग गये॥ ५१ ॥

स्थाने कन्यामनः सक्त-मित्यूचुः सज्जना मुदा।
सुधासूतेः सुधोत्पत्ति-रपि लोके किमद्भुतम्॥ ५२ ॥

अन्वयार्थौ—और, सज्जनाः = सज्जन लोग, कन्यामनः = गन्धर्वदत्ता कन्या का मन, स्थाने = योग्य स्थान में, सक्तम् = आसक्त हुआ, इति = इस बात को, मुदा = हर्ष से, ऊचु = कहने लगे। नीतिः—हि = क्योंकि, लोके = संसार में, सुधासूते. = चन्द्रमा से, सुधोत्पत्ति. = अमृत की उत्पत्ति, अद्भुतम् =

आश्चर्यजनक, भवति किम् = होती है क्या ? किन्तु न = नहीं ।। ५२ ।।

भावार्थ:—जैसे कि संसार में चन्द्रमा से अमृत की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है । अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं होता है उसी प्रकार अपने योग्य वस्तु की ही चाह करना बुद्धिमानों और योग्य कार्य होते देख खुश होना सज्जनों का भी स्वभाव ही है । अतएव जब गन्धर्वदत्ता कन्या ने योग्य वर जीवन्धर में ही प्रेम प्रगट किया तब सज्जनों ने भी उसकी शतमुख प्रशंसा की ।। ५२ ।।

अथ गन्धर्वदत्तां तां, श्रीदत्तेनाग्निसाक्षिकम् ।

दत्तां स जीवकस्वामी, पर्यणैष्ट यथाविधि ।। ५३ ।।

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, स. = वह, जीवकस्वामी = जीवन्धर स्वामी, श्रीदत्तेन = श्रीदत्त के द्वारा, दत्ताम् = प्रदान की गई, ताम् = उस, गन्धर्वदत्ताम् = गन्धर्वदत्ता को, यथाविधि = जैन विवाह पद्धति के अनुसार, पर्यणैष्ट = वरण करता हुआ ।। ५३ ।।

भावार्थः—पश्चात् जीवन्धर ने पिता (गरुड़वेग) के अभिन्नमित्र श्रीदत्त द्वारा प्रदत्त गन्धर्वदत्ता कन्या को जैन विवाहपद्धति के अनुसार हवनादिपूर्वक ब्याहा ।। ५३ ।।

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते भावार्थदीपिकाटीकोपेते क्षत्रचूडामणौ नीतिकाव्ये तृतीयलम्बः समाप्तः ।

अथ चतुर्थलम्बः ।

अथ जीवन्धरस्वामी, रेमे रामासमन्वितः ।

संसारेऽपि यथायोग्याद्-भोग्यान्ननु सुखी जनः॥ १ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके पश्चात्, रामासमन्वितः = स्त्रीयुक्त, जीवन्धरस्वामी = जीवन्धर, रेमे = विषयभोग करने लगे । नीति —हि = क्योंकि, संसारे = संसार में, अपि = भी, जनः = मनुष्य, यथायोग्यात् = योग्यतानुकूल, भोग्यात् = भोग्य वस्तु से, ननु = निश्चय से, सुखी = सुखी, भवति = होता है ॥१॥

भावार्थः—संसार में प्रत्येक प्राणी अपनी इच्छा और योग्यता के अनुकूल सांसारिक भोग्य वस्तुओं को भोग कर आनन्द मानता है, तदनुसार गन्धर्वदत्ता के साथ विवाह होने के पश्चात् जीवन्धर ने भी उसके साथ भोग विलास कर अपने को सुखी माना ॥ १ ॥

माधवोऽथ जलक्रीडां, पौराणामुदपादयत् ।

रागान्धानां वसन्तो हि, बन्धुरग्नेरिवानिलः ॥ २ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, माधव = बसन्त ऋतु, पौराणाम् = पुरवासियों के, जलक्रीडाम् = जलक्रीडा को, उदपादयत् = उत्पन्न करता हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, बसन्तः = बसन्त ऋतु, अग्नेः = अग्नि के, अनिलः इव = वायु के समान, रागान्धानाम् = विषयी जनों का, बन्धुः = मित्र, अस्ति = है ॥ २ ॥

भावार्थः—अथानन्तर बसन्त ऋतु का आगमन हुआ और वह बसन्त, जिस प्रकार वायु अग्नि को बढ़ाता है, उसी प्रकार विषया-

नुरागियों के विषयानुराग का वर्धक होता है, अतएव उसके आगमन से उत्तेजित हो पुरवासियों ने जलक्रीडा (सरोवरों में नायिका और नायक की जल द्वारा फाग आदि) करना प्रारम्भ किया ॥ २ ॥

जीवन्धरकुमारोऽपि, मित्रैर्द्रष्टुमयादमूम् ।
नवापगाजलक्रीडां, लोको ह्यभिनवप्रियः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थौ—जीवन्धरकुमारः = जीवन्धर, अपि = भी, मित्रैः सार्धम् = मित्रों के साथ, अमूम् = इस, नवापगाजल-क्रीडाम् = नदी मे की जाने वाली नूतन जलक्रीडा को, द्रष्टुम् = देखने को, अयात् = गये । नीति — हि = क्यों कि, लोक. = जनसमुदाय, अभिनवप्रिय. = नवीन वस्तु मे प्रेम करने वाला, भवति = होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ:—नवीन वस्तु में प्रेम करना प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव ही है, तदनुसार जीवन्धर भी इस नूतन जल-क्रीडा को देखने का लालसी हो मित्रों के साथ क्रीडास्थल पर पहुंचा ॥ ३ ॥

अवधिषुर्द्विजास्तत्र, हविर्दूषितभाषणम् ।
क्रूराः किं किं न कुर्वन्ति, कर्म, धर्मपराङ्मुखाः ॥४॥

अन्वयार्थौ—तत्र = वहां पर, द्विजाः = ब्राह्मण लोग हविर्दूषितभाषणम् = हवन सामग्री को जूँठा कर दिया है जिसने ऐसे कुत्ते को, अवधिषुः = मारते हुए । नीतिः—हि = क्योंकि, धर्मपराङ्मुखाः = धर्महीन, क्रूराः = दुष्टजन, किं किम् = किस-किस, कर्म = खोटे कार्य को, न कुर्वन्ति = नहीं करते हैं ? किन्तु, सर्व कुर्वन्ति = सभी कर डालते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थः—धर्मशून्य जन किसी भी खोटे कर्म को करते हुए नहीं सकुचते हैं, तदनुसार क्रीडादर्शनार्थ नदी पर पहुंच कर जीवन्धर ने वहाँ पर प्रारब्ध हवन की सामग्री को उच्छिष्ट (जूंठा) कर देने के कारण ब्राह्मणों के द्वारा अधमरे किये गये एक कुत्ते को देखा ॥ ४ ॥

निर्निमित्तमपि घ्नन्ति, हन्त जन्तूनधार्मिकाः ।

किम्पुनः कारणाभासे, नो चेदत्र निवारकः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थौ—हन्त = खेद है कि, अधार्मिकाः = पापीजन, यदा = जब, निर्निमित्तम् = कारण विना, अपि = ही, जन्तून् = प्राणियों को, घ्नन्ति = मार डालते हैं । तब, कारणाभासे = झूठ-मूठ कारण के मिलजाने पर, निवारकः = रोकने वाला, नो-चेत् = न मिले, पुनः = तो फिर, किम् = कहना ही क्या है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब कि पापी जन निष्कारण ही निर्बल जीवों का गला घोंट देते हैं, तब यदि कोई मिथ्या कारण मिल जावे और उनके कुकर्म का कोई निषेध न करे तो फिर उनकी निर्दयता का कहना ही क्या है ॥ ५ ॥

तद्व्यथां वीक्षमाणोऽयं, कुमारो विषसाद सः ।

तद्धि कारुण्यमन्येषां, स्वस्येव व्यसने व्यथा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थौ—तद्व्यथाम् = उस कुत्ते की पीड़ा को, वीक्षमाणः = देखने वाला, सः = प्रसिद्ध, अयम् = यह, कुमारः = जीवन्धर कुमार, विषसाद = दुखी हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, परेषाम् = दूसरों के, व्यसने = दुःख में, स्वस्य = अपने, व्यसने = दुःख में, जाता = हुई, व्यथा इव =

पीड़ा के समान, व्यथा = पीड़ा होना. एव = ही, कारुण्यलक्ष-णम् = दयालुता का चिन्ह, अस्ति = है ॥ ६ ॥

भावार्थ·—अपने ऊपर किसी आपत्ति के आजाने पर, मनुष्य जिस प्रकार दुखी होता है, उसी प्रकार दूसरे पर आई हुई आपत्ति को भी अपनी आपत्ति समान जान, तदनुसार दु ख का अनुभव करना ही दयालुता है। अतएव दयालु जीवन्धर भी उस कुत्ते के मरणकालिक छटपटाने के दु ख को देख कर बहुत दुखी हुये ।। ६ ।।

प्रत्युज्जीवयितुं श्वानं—यत्नेनाप्यथ नाशकत् ।

न ह्यकालकृतो यत्नो, भूयानपि फलप्रदः ॥ ७ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, अयम् = यह जीवन्धर, श्वानम् = कुत्ते को, यत्नेन = कोशिश से, अपि = भी, प्रत्युज्जी· वयितुम् = जिलाने को, न अशकत् = समर्थ नहीं हुआ। नीति.-हि = क्योंकि, अकालकृतः = असमय मे किया हुआ. भूयान् = बहुत, अपि = भी, यत्न· = यत्न. फलप्रदः = फलदायक, न भवति = नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

भावार्थ·—असमय में किया गया यत्न बहुत भी क्यों न हो, किन्तु उससे फल प्राप्ति या इच्छा-पूर्ति होना असम्भव ही है। तदनुसार वह कुत्ता भी बुरी तरह घायल हो चुका था और उसके उपचार के योग्य समय भी बीत चुका था, जिससे अनेक यत्न करने पर भी जीवन्धर कुमार उसे जीवित रखने में सफल न हो सके ॥७॥

परलोकार्थमस्यायं—पञ्चमन्त्रमुपादिशत् ।

निर्वाणपथपान्थानां—पाथेयं तद्धि किम्परैः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थौ—तथापि, अयम्=यह जीवन्धर, अस्य= इस कुत्ते के, परलोकार्थम्=परभव के सुधारार्थ, पञ्चमंत्रम्= पञ्चनमस्कारमन्त्र को, उपादिशत्=उपदेश देता हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, तत्=वह पञ्चनमस्कारमन्त्र, परैः= और तो, किम्=क्या ?, निर्वाणपथपान्थानाम्=मोक्षमार्ग के राहगीरों के, पाथेयम्=नाश्ता के सदृश, अस्ति=है ॥ ८ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार पथिक को यात्रा में कलेवा सहायक होता है, उसी प्रकार मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति करने वालों को णमोकार मन्त्र भी प्रथम सहायक (द्वार) है। अतएव जीवन्धर ने भी कुत्ते को परभव में मोक्षमार्गगामी बनाने रूप सुधारार्थ उसे मरते समय णमोकार मन्त्र सुनाया ॥ ८ ॥

यक्षेन्द्रोऽजनि यक्षोऽय–महो मन्त्रस्य शक्तितः ।
कालायसं हि कल्याण–कल्पते रसयोगतः ॥ ६ ॥

अन्वयार्थौ—और, अहो=आश्चर्य है कि, अयम्=यह, यक्षः=कुत्ता, मन्त्रस्य=णमोकारमन्त्र के, शक्तितः=प्रभाव से, यक्षेन्द्रः=यक्ष जाति के देवों का स्वामी, अजनि=हुआ। नीतिः—हि=क्योंकि, रसयोगतः=रसके सम्बन्ध से कालायसम्=लोहा, अपि=भी, कल्याणम्=सुवर्णरूप, कल्पते= हो जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार रसायन के संयोग से तुच्छ लोहा भी सुवर्ण बनजाता है, उसी प्रकार, अन्त समय में णमोकार मन्त्र के श्रवण से कुत्ता भी अग्रिम पर्याय में यक्षाधिपति होगया ॥ ६ ॥

मरणक्षणलब्धेन, येन श्वा देवताजनि ।

पंचमंत्रपदं जप्य–मिदं केन न धीमता ॥ १० ॥

अन्वयार्थौ—मरणक्षणलब्धेन = मृत्यु के समय श्रुत, येन = जिस णमोकार मन्त्र से, श्वा = कुत्ता, अपि = भी, देवता = देव, अजनि = होगया, इदम् = यह प्रसिद्ध, पंचमंत्रपदम् = पंच णमोकारमन्त्र, केन = किस, धीमता = बुद्धिमान के द्वारा, न जप्यम् = जपन योग्य नहीं है? किन्तु, सर्वैरेव जप्यम् = सभी के द्वारा जपनीय है ॥ १० ॥

भावार्थः—केवल मृत्यु समय में जिस मंत्र के श्रवण से कुत्ता भी मर कर देव हुआ, उसके जीवन में अनेक बार जपने से तो अपूर्व फल की प्राप्ति हो सकती है । अतएव आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है, कि वे इस णमोकार मन्त्र का सदा जाप करें ॥ १० ॥

स कृतज्ञचरो देवः, कृतज्ञत्वात्तदागमत् ।

अन्तर्मुहूर्ततः पूर्ति–र्दिव्याय हि नोर्भवेत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थौ—कृतज्ञचरः = भूतपूर्व कुत्ते का जीव, सः = वह, देवः = देव, कृतज्ञत्वात् = उपकार का ज्ञाता होने के कारण, तदा = उसी समय, तत्र = उस जीवन्धर के पास, आगमत् = आया । नीति.—हि = क्योंकि, दिव्यायाः = देवों सम्बन्धी, तनोः = शरीर की, पूर्तिः = पूर्णता, अन्तमु हूर्ततः = अन्तमु हूर्त में, भवेत् = होजाती है ॥ ११ ॥

भावार्थः—देवों के शरीर की पूर्णता अन्तमु हूर्त में ही हो जाती है, तदनुसार कुत्ते का जीव भी मर कर अन्तमु हूर्त में ही देवपर्याय

धारण कर अवधिज्ञान से पूर्व सर्व वृत्तान्त जान कर कृतज्ञता से शीघ्र जीवन्धर के पास आया ॥ ११ ॥

कुमारममरो दृष्ट्वा, हृष्टस्तुष्टाव मृष्टवाक् ।

उपकारस्मृतिः कस्य, न स्यान्नो चेदचेतनः ॥ १२ ॥

अन्वयार्थौ-कुमारम्=जीवन्धर कुमार को, दृष्ट्वा=देखकर, हृष्ट=आनन्दित, मृष्टवाक्=निर्दोषवक्ता, अमरः=यक्षेन्द्र, तुष्टाव=स्तुति करने लगा। नीतिः—हि=क्योंकि, चेत्=यदि, अचेतन =अजीव, न स्यात्=न हो, तर्हि=तो, उपकार-स्मृतिः=उपकार का स्मरण, कस्य=किसके, न स्यात्=न होगा ॥ १२ ॥

भावार्थ --सज्जन लोग अपने उपकारी के द्वारा कृत उपकार को जीते जी नहीं भूलते हैं। अतएव सज्जन और कृतज्ञ यक्षेन्द्र भी मंत्र-श्रावण रूप उपकार का स्मरण कर उसके प्रत्युपकारार्थ जीवन्धर के पास आया और उन्हें देख खुश हो उनकी बहुत स्तुति करने लगा।१२॥

व्यस्मेष्ट तेन न स्वामी, मनुमाहात्म्यनिर्णयात् ।

मुक्तिप्रदेन मंत्रेण, देवत्वं न हि दुर्लभम् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थौ—स्वामी=जीवन्धर स्वामी, मनुमाहात्म्य-निर्णयात्=णमोकार मन्त्र के प्रभाव के निश्चय से, तेन=उस देव के अवलोकन और अपनी स्तुति से, न व्यस्मेष्ट=आश्चर्य-युक्त नहीं हुए। नीतिः—हि=क्योंकि, मुक्तिप्रदेन=मुक्ति के देने वाले, मंत्रेण=णमोकार मन्त्र से, देवत्वम्=देवपना, दुर्लभम्=दुष्प्राप्य, न भवति=नहीं होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिस मन्त्र के प्रभाव से और की तो बात ही क्या, किन्तु मोक्ष तक की प्राप्ति हो सकती है, उसके द्वारा देवपना पाना तो ना कुछ बात है। इस प्रकार मन्त्र के प्रभाव के दृढ़ निश्चय से कुत्ते के जीव को देव हुआ जानकर भी जीवन्धर को लेशमात्र भी आश्चर्य नहीं हुआ॥ १३॥

स्मर्तव्योऽस्मि महाभागे-त्युक्त्वा देवस्तिरोऽभवत्।
प्रतिकर्तुं कथं नेच्छे-दुपकर्तुः सचेतनः॥ १४॥

अन्वयार्थौ—देव = यक्षेन्द्र, महाभाग ! = हे भाग्यशालिन् जीवन्धर ! आपदि = आपत्ति के आने पर, अहम् = मैं, स्मर्तव्यः = स्मरण करने योग्य, अस्मि = हूँ, इति = इस प्रकार, उक्त्वा = कहकर, तिरोऽभवत् = अन्तर्हित होगया। नीतिः-हि = क्योंकि, सचेतन = सजीव प्राणी, उपकर्तु = उपकार करने वाले के, प्रतिकर्तुम् = प्रत्युपकार करने के लिये, कथम् = कैसे, न इच्छेत् = नहीं चाहेगा, किन्तु, इच्छेत् एव = चाहेगा ही॥ १४॥

भावार्थ—सज्जन पुरुष अपने उपकारी का प्रत्युपकार करना जीते जी नहीं भूलते हैं। अतएव कृतज्ञ यक्षेन्द्र भी प्रत्युपकारार्थ "हे जीवन्धर जब तुम पर कोई आपत्ति आवे तब मेरा स्मरण करना। मैं उसी समय आकर तुम्हारी आपत्ति को दूर करूँगा"। ऐसा कह कर अदृश्य होगया॥ १४॥

सारमेयचरे देवे, तमाश्लिष्य मुहुर्मुहुः।
आपृच्छ्य च गते तस्मि-न्तत्र प्रस्तुतमुच्यते॥ १५॥

भावार्थ.—पश्चात् उन दोनों सखियों ने चूर्णों की परीक्षा के हेतु अपनी २ दासी एक साथ चूर्णपरीक्षाकुशल विद्वानों के पास भेजीं, क्योंकि मात्सर्य करने वाले प्राणी किसी भी निन्द्य कर्म को करते हुये नहीं हिचकते हैं। अतएव इन सखियोंने भी परीक्षक विद्वानों के समीप अपनीं दासियां भेजनेरूप धृष्टता करते हुये जरा भी संकोच नहीं किया ॥ १८ ॥

अस्थिषातामथागत्य, चेट्यौ जीवककोविदे।
अनवद्या सती विद्या, लोके किं न प्रकाशते ॥१९॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, चेट्यौ = दोनो दासिया, जीवककोविदे = जीवन्धर विद्वान् के समीप में, आगत्य = आकर, अस्थिषाताम् = ठहर गईं। नीति.—हि = क्यों कि, लोके = संसार में, सती = उत्तम, अनवद्या = पूर्ण, विद्या = विद्या न प्रकाशते किम् = प्रकाशित नहीं होती है क्या? किन्तु, प्रकाशते एव = प्रकाशित ही होती है ॥ १९ ॥

भावार्थ·—निर्दोष और उत्तम विद्या छिपाने से नही छिपती तथा प्रकाशित किये बिना ही जग जाहिर हो जाती है। अतएव पूर्वोक्त दोनों दासियां कई विद्वानों के पास घूमकर भी 'चूर्णों का यथार्थ निर्णय जीवन्धर के पास ही होगा' इस प्रकार पता पाकर उनके पास-आकर परीक्षार्थ उनसे प्रार्थना करने लगीं ॥ १९ ॥

गुणवद्गुणमालाया-श्चूर्णं निवर्ण्य सोऽभ्यधात्।
पाण्डित्यं हि पदार्थानां-गुणदोषविनिश्चयः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—स = वह जीवन्धर, निवर्ण्य = परीक्षा कर, गुणमालायाः = गुणमाला के, चूर्णम् = चूर्ण को, गुणवत् = उत्तम, अभ्यधात् = कहता हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, पदार्थानाम् = वस्तुओ के, गुणदोषविनिश्चयः = गुण और दोष का निश्चय करना, एव = ही, पाण्डित्यम् = विद्वत्ता, कथ्यते = कहलाती है ॥ २० ॥

भावार्थ—वस्तुओं के गुण और दोष का निष्पक्ष और यथार्थ निर्णय कर लेना ही विद्वत्ता है, तदनुसार विद्वान् जीवन्धर ने निष्पक्ष बुद्धि से परीक्षा कर दोनों चूर्णों में से गुणमाला के चूर्ण को ही कालोचित सगुण और उत्तम बतलाया ॥ २० ॥

चेटी तु सुरमञ्जर्या—स्तच्छ्रुत्वा रोषणाऽब्रवीत् ।
अन्यैरप्युक्तमुक्तं तैः, किमध्यैष्ट भवानिति ॥२१॥

अन्वयार्थौ—तु = पश्चात्, सुरमंजर्याः = सुरमञ्जरी की, चेटी = दासी, तत् = उस जीवकोक्त गुणमाला के चूर्ण की उत्तमता को, श्रुत्वा = सुनकर, रोषणा सती = क्रोधित होती हुई, अन्यैः = दूसरों से, उक्तम् = कहा हुआ निर्णय, भवता = आपने, अपि = भी, उक्तम् = कहा है, किम् = क्या, भवान् = आप, तैः सह = उनके साथ, अध्यैष्ट = पढ़े हैं ?, इति = इस प्रकार, अब्रवीत् = बोली ॥ २१ ॥

भावार्थः—पश्चात् सुरमंजरी की दासी, जीवन्धर द्वारा प्रगट की गई गुणमाला के चूर्ण की उत्तमता को सुनकर क्रोधित होती

अन्वयार्थौ—सारमेयचरे=भूतपूर्व कुत्ते के जीव, तस्मिन्=उस, देवे=यक्षेन्द्र के, आश्लिष्य=भेंट करके, च=और, मुहुर्मुहुः=बार बार, 'आपृच्छ्य=पूछ करके, गते सति=चले जाने पर, तत्र=वहां पर, प्रस्तुतम्=हुआ समाचार, उच्यते=कहा जाता है ।। १५ ।।

भावार्थ.—जब देव (कुत्ते का जीव) जीवन्धर से भेंट (मिल) कर और उनकी आज्ञा लेकर अपने स्थान पर चला गया, तब उस नदी के तट पर जो और वृत्तान्त हुआ वह यहां पर चित्रित किया जाता है ।। १५ ।।

चूर्णार्थं सुरमञ्जर्याः, स्पर्धाभूद्गुणमालया ।

एकार्थस्पृहया स्पर्धा, न वर्धेतात्र कस्य वा ।। १६ ।।

अन्वयार्थौ—तदा=उसी समय, गुणमालया सह=गुणमाला के साथ, सुरमंजर्याः=सुरमंजरी की, चूर्णार्थम्=चूर्ण के हेतु, स्पर्धा=ईर्षा, अभूत्=होगई । नीतिः· वा=क्योंकि, अत्र=इस लोक में, एकार्थस्पृहया=एक ही पदार्थ के विषय में इच्छा से, कस्य=किसके, स्पर्धा=डाह, न वर्धेत=नहीं बढ़ती है, किन्तु, सर्वेषाम्=सभी के, वर्धेत=बढ़ती है ।। १६ ।।

भावार्थ.—सदृश अनेक वस्तुओं में 'मेरी ही वस्तु सर्वोत्तम साबित हो' ऐसी भावना प्रायः सभी मनुष्यों के रहती है । तदनुसार सुरमजरी और गुणमाला नामक दो सखियों के पास जो दो प्रकार के चूर्ण थे, उनमें भी 'मेरा चूर्ण उत्तम है – मेरा चूर्ण उत्तम है' इत्यादि विसम्वाद छिड़ गया ॥ १६ ॥

मा भूत्पराजिता स्नाता, नादेये वारिणीति वै ।

संगिराते स्म ते सख्यौ, मात्सर्यात्किं न नश्यति ॥१७॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, ते = वे दोनों, सख्यौ = सखियां, पराजिता = हारी हुई सखी, नादेये = नदी सम्बन्धी, वारिणि = जल में, स्नाता = कृतस्नान, माभूत् = नहीं हो, इति = इस प्रकार, संगिरातेस्म = प्रतिज्ञा करती हुईं । नीति-हि = क्योंकि, मात्सर्यात् = डाह से, किम् = क्या, न नश्यति = नष्ट नहीं होजाता है, किन्तु, सर्वं नश्यति = सब नष्ट होजाता है ॥ १७ ॥

भावार्थः—जब उन दोनों सखियों का चूर्ण विषयक विवाद किसी तरह शान्त नहीं हुआ, तब अन्तोगत्वा उन्होंने परस्पर यह प्रतिज्ञा की कि परीक्षा कराने पर हम दोनों में से जिसका चूर्ण अनुपयोगी साबित होगा, वह नदी में स्नान न करे । नीतिकार कहते हैं, कि देखो, ईर्षा करना कितना बुरा है, कि जिसके वश होकर यह प्राणी बड़े २ अनर्थ कर बैठता है ॥ १७ ॥

कन्ये प्राहिणुते पश्चा—च्चेट्यौ स्वे निकटे सताम् ।

कुत्सितं कर्म किं किं वा, मत्सरिभ्यो न रोचते ॥१८॥

अन्वयार्थौ—पश्चात् = इसके बाद, कन्ये = दोनो कन्याएँ सताम् = औषधि परीक्षक विद्वानों के, निकटे = समीप में, स्वे = अपनी अपनी, चेट्यौ = दासियों को, प्राहिणुताम् = भेजती हुईं । नीतिः—वा = क्योंकि, मत्सरिभ्यः = मात्सर्य करने वालों के, किं किम् = कौन कौन, कुत्सितम् = खोटा, कर्म = कार्य न रोचते = रुचिकर नहीं होता है । किन्तु, सर्वं रोचते = सभी रुचिकर होता है ॥ १८ ॥

भावार्थ.—पश्चात् उन दोनों सखियों ने चूर्णों की परीक्षा के हेतु अपनी २ दासी एक साथ चूर्णपरीक्षाकुशल विद्वानों के पास भेजीं, क्योंकि मात्सर्य करने वाले प्राणी किसी भी निन्द्य कर्म को करते हुये नहीं हिचकते हैं। अतएव इन सखियोंने भी परीक्षक विद्वानों के समीप अपनी दासियां भेजनेरूप धृष्टता करते हुये जरा भी संकोच नहीं किया ॥ १८ ॥

आस्थिषातामथागत्य, चेट्यौ जीवककोविदे ।
अनवद्या सती विद्या, लोके किं न प्रकाशते ॥१९॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, चेट्यौ = दोनो दासियां, जीवककोविदे = जीवन्धर विद्वान् के समीप में, आगत्य = आकर, अस्थिषाताम् = ठहर गईं। नीति.—हि = क्यो कि, लोके = संसार में, सती = उत्तम, अनवद्या = पूर्ण, विद्या = विद्या न प्रकाशते किम् = प्रकाशित नहीं होती है क्या? किन्तु, प्रकाशते एव = प्रकाशित ही होती है ॥ १९ ॥

भावार्थ —निर्दोष और उत्तम विद्या छिपाने से नहीं छिपती तथा प्रकाशित किये बिना ही जग जाहिर हो जाती है। अतएव पूर्वोक्त दोनों दासिया कई विद्वानों के पास घूमकर भी 'चूर्णों का यथार्थ निर्णय जीवन्धर के पास ही होगा' इस प्रकार पता पाकर उनके पास आकर परीक्षार्थ उनसे प्रार्थना करने लगीं ॥ १९ ॥

गुणवद्गुणमालाया-श्चूर्णं निर्वर्ण्य सोऽभ्यधात् ।
पाण्डित्यं हि पदार्थानां-गुणदोषविनिश्चयः ॥२०॥

अन्वयार्थौ—स = वह जीवन्धर, निवर्ण्य = परीक्षा कर, गुणमालायाः = गुणमाला के, चूर्णम् = चूर्ण को, गुणवत् = उत्तम, अभ्यधात् = कहता हुआ । नीतिः—हि = क्योंकि, पदार्थानाम् = वस्तुओं के, गुणदोषविनिश्चय. = गुण और दोष का निश्चय करना, एव = ही, पाण्डित्यम् = विद्वत्ता, कथ्यते = कहलाती है ॥ २० ॥

भावार्थ—वस्तुओं के गुण और दोष का निष्पक्ष और यथार्थ निर्णय कर लेना ही विद्वत्ता है, तदनुसार विद्वान् जीवन्धर ने निष्पक्ष बुद्धि से परीक्षा कर दोनों चूर्णों में से गुणमाला के चूर्ण को ही कालोचित सगुण और उत्तम बतलाया ॥ २० ॥

चेटी तु सुरमञ्जर्या—स्तच्छ्रुत्वा रोषणाऽब्रवीत् ।
अन्यैरप्युक्तमुक्तं तैः, किमध्यैष्ट भवानिति ॥२१॥

अन्वयार्थौ—तु = पश्चात्. सुरमंजर्या. = सुरमञ्जरी की, चटी = दासी, तत् = उस जीवकोक्त गुणमाला के चूर्ण की उत्तमता को, श्रुत्वा = सुनकर, रोषणा सती = क्रोधित होती हुई, अन्यैः = दूसरों से, उक्तम् = कहा हुआ निर्णय, भवता = आपने, अपि = भी, उक्तम् = कहा है, किम् = क्या, भवान् = आप, तैःसह = उनके साथ, अध्यैष्ट = पढ़े हैं ?, इति = इस प्रकार, अब्रवीत् = बोली ॥ २१ ॥

भावार्थः—पश्चात् सुरमजरी की दासी, जीवन्धर द्वारा प्रगट की गई गुणमाला के चूर्ण की उत्तमता को सुनकर क्रोधित होती

हुई बोली कि जिस प्रकार अन्य विद्वानों ने पक्षपात कर गुणमाला के चूर्ण को उत्तम बताया है उसी प्रकार आप भी कह रहे हैं, मालूम होता है कि आप भी उन्हीं के ही सहपाठी हैं ॥ २१ ॥

चूर्णयोरलिभिः स्वामी, गुणदोषावसाधयत् ।
निर्विवादविधेर्नो चे–न्नैपुण्यं नाम किं भवेत् ॥२२॥

अन्वयार्थौ—तदा = तब, स्वामी = जीवन्धर स्वामी, अलिभिः = भ्रमरों के द्वारा चूर्णयोः = दोनों चूर्णों के, गुण-दोषौ = गुण और दोष को, असाधयत् = सिद्ध करते हुये। नीति.—हि = क्योंकि, निर्विवादविधिः = विचाराधीन कार्य में विवाद का अभाव, नो चेत् = न हो सके, तर्हि = तो, नैपुण्यं-नाम = विद्वत्ता, किम् = क्या, भवेत् = कहलावे ? ॥ २२ ॥

भावार्थ.—विवादग्रस्त वस्तु को निर्विवाद कर देना ही विद्वत्ता कहलाती है। अतएव प्रौढ़ विद्वान् जीवन्धर ने भी दोनों चूर्णों को एक साथ अपने दोनों हाथों से ऊपर फेंक कर गुणमाला के चन्द्रोदय नामक चूर्ण की उत्तमता, आये हुए सुगन्ध लोलुपी भ्रमरों द्वारा, सुरमंजरी की दासी के समक्ष ही साबित करदी ॥ २२ ॥

आकालिकतया दुष्टं–चूर्णमन्यदवर्णयत् ।
न ह्यकालकृतं कर्म, कार्यनिष्पादनक्षमम् ॥२३॥

अन्वयार्थौ—सः = वह जीवन्धर, अन्यत् = दूसरे चूर्ण को, आकालिकतया = समयानुकूल न होने से, दुष्टम् = निर्गुण,

अवगणयन्=सिद्ध करता हुआ। नीतिः—हि=निश्चय से, अकालकृतम्=असमय में किया गया, कर्म=परिश्रम, कार्य-निष्पादनक्षमम्=कार्य को पूर्ण करने में समर्थ, न भवति=नहीं होता है॥ २३॥

भावार्थः—जो कार्य समय देखकर नहीं किया जाता है उसका सफल होना प्रायः असम्भव ही हो जाता है, तदनुसार जीवन्धर ने भी सुरमंजरी के चूर्ण को भ्रमरों के न बैठने से निर्गन्ध साबित कर, यह चूर्ण वसन्त ऋतु के अनुकूल नहीं है—वर्षा ऋतु के ही अनुकूल है, यह दोष दिखलाकर दूपित साबित कर दिखाया॥ २३॥

कुमारादथ कुट्टिन्यौ, नुत्वा नत्वा च निर्गते।
निर्विवादं वितन्वानाः, स्तुत्याः केन न भूतले॥२४॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, कुट्टिन्यौ=दोनों दासिया, नुत्वा=स्तुति कर, च=और, नत्वा=नमस्कार कर, कुमारात्=जीवन्धर के पास से, निर्गते=चली गईं। नीति—हि=क्योंकि, कार्यम्=कार्य को, निर्विवादम्=विवादरहित, वितन्वानाः=करने वाले, जनाः=मनुष्य, भूतले=भूमण्डल पर, केन=किसके द्वारा, न स्तुत्याः=स्तुति करने के योग्य नहीं हैं? किन्तु, सर्वैः स्तुत्याः=सभी के द्वारा स्तवनीय हैं॥ २४॥

भावार्थः—विवादग्रस्त कार्य को निर्विवाद कर देने वाले मनुष्य इस भूमण्डल पर सभी के द्वारा सत्कृत किये जाते हैं। अतएव उभय

चूर्ण के विषय में उत्पन्न हुए विवाद को जब जीवन्धरस्वामी ने परीक्षा कर दूर कर दिया तब चूर्ण परीक्षा को यथार्थ समझ कर वे दोनों दासियां भी जीवन्धर की प्रशंसा करती हुई अपनी अपनी स्वामिनी के पास चली गईं ॥ २४ ॥

तच्चासीत्सुरमञ्जर्याः, विरागस्यैव कारणम् ।
न ह्यत्र रोचते न्याय-मीर्ष्यादूषितचेतसे ॥२५॥

अन्वयार्थौ—च = और, तत् = वह निर्णय, सुरमंजर्या = सुरमञ्जरी के, विरागस्य = वैराग्य का, एव = ही, कारणम् = कारण, आसीत् = हुआ, नीति.-हि = क्योंकि, ईर्ष्यादूषित-चेतसे = ईर्षा से मलीन चित्त वाले प्राणी के लिये, न्यायम् = न्याययुक्त बात, न रोचते = रुचिकर नहीं मालूम होती है ॥२५॥

भावार्थ —जिन जीवों के हृदय में ईर्षाभाव जागृत रहता है, उन्हें न्यायानुकूल बात भी प्रिय नहीं लगती, तदनुसार जीवन्धर ने चूर्ण परीक्षा यद्यपि निष्पक्ष रूप से की थी परन्तु ईर्षालु सुरमजरी, उससे सहमत न होकर अपना पराजय जान बहुत ही उदास होगई ॥ २५ ॥

प्रार्थिताप्यकृतस्नाना, सत्वरं सुरमञ्जरी ।
न्यवर्तिष्ट महारोषा-दीर्ष्या हि स्त्रीसमुद्भवा ॥२६॥

अन्वयार्थौ—पश्चात्, सुरमञ्जरी = सुरमञ्जरी, प्रार्थिता = मनाई गई, अपि = भी, अकृतस्नाना = स्नानरहित, सती =

होती हुई, महारोषात्=अतिशय क्रोध से, सत्वरम्=शीघ्र. न्यवर्तिष्ट=लौट गई। नीति —हि=क्योंकि, ईर्ष्या=मात्सर्य, स्त्रीसमुद्भवा=स्त्रियों से उत्पन्न, एव=ही, अस्ति=है ॥ २६ ॥

भावार्थः—संसार में स्त्री हीं ईर्षा की जननी है अर्थात् सबसे अधिक ईर्ष्या स्त्रियों में ही हुआ करती है। अतएव गुणमाला ने नदी में स्नान करने के लिये सुरमंजरी से बहुत कुछ आग्रह किया पर ईर्षाग्रस्त उसने उसकी एक न मानी और प्रतिज्ञानुसार बिना स्नान किये ही अपने घर को वापिस होने लगी ॥ २६ ॥

जीवकादपरान्नेक्षे, पुरुषानिति संविदा।
कन्यागृहमथ प्राप—न्न हि भेद्य मनः स्त्रियाः ॥२७॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके अनन्तर, सुरमञ्जरी, अहम्=मैं, जीवकात्=जीवन्धर से, अपरम्=भिन्न पुरुष को, न ईक्षे=पतिरूप से न देखूंगी, इति=इस प्रकार, संविदा=प्रतिज्ञा करके, कन्यागृहम्=कन्यागृह को, प्रापत=चली गई। नीति —हि=क्योंकि, स्त्रियाः=स्त्री का, मनः=मन का विचार, भेद्यं न=बदलने के योग्य नहीं होता है ॥ २७ ॥

भावार्थः—लोक में स्त्रियों की हठ प्रसिद्ध है, उसका निषेध करना दुष्कर ही होता है, तदनुसार सुरमंजरी भी 'मैं जीवन्धर के सिवाय अन्य पुरुष को देखूंगी भी नहीं' ऐसी अटल प्रतिज्ञा कर हठ-पूर्वक अपने घर चली गई ॥ २८ ॥

सख्यां तथैव यातायां—गुणमाला शुशोच ताम्।
न ह्यनिष्टेष्टसंयोग—वियोगाभमरुन्तुदम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थौ—च = और, गुणमाला = गुणमाला, सख्याम् = अपनी सखी सुरमंजरी के, तथा = विना स्नान किये हुए, एव = ही, यातायाम् = चले जाने पर, ताम् = उसके हेतु, शुशोच = रंज करती हुई। नीतिः—हि = क्योंकि, अनिष्टेष्टसंयोगवियोगाभम् = अप्रिय वस्तु की प्राप्ति और प्रिय वस्तु के वियोग के समान, अरुन्तुदम् = दुःखदायक, वस्तु = कोई दूसरी वस्तु, न भवति = नहीं होती है ॥ २८ ॥

भावार्थ —इस संसार में अनिष्टसंयोग एवं इष्टवियोग हार्दिक पीड़ा जनक होते हैं। अतएव अपनी सखी के चले जाने रूप इष्टवियोग से गुणमाला ने भी बहुत रंज किया ॥२८॥

गन्धसिन्धुरतो भीति-रासीदथ पुरौकसाम् ।
विपदोऽपि हि तद्भीति-र्मूढानां हन्त बाधिका ॥२९॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, पुरौकसाम् = पुरवासियों के गन्धसिन्धुरतः = मदोन्मत्त गंध हस्ती से, भीतिः = भय, आसीत् = हुआ। नीति —हि = क्योंकि, हन्त = खेद है, यत् = कि, मूढानाम् = मूर्खों के, विपद = विपत्ति से, अपि = भी, तद्भीतिः = विपत्ति का भय, बाधिका = अतिशय दुखदायक, भवति = होता है ॥ २९ ॥

भावार्थः—इसके पश्चात् काष्ठांगार का एक मदोन्मत्त गन्धहस्ती (यस्य गंधं समाघ्राय०) अपने स्थान से छूटकर मकान और वृक्ष आदि को चकनाचूर करता हुआ वहाँ आया। उसे देखते ही नगर निवासी भयभीत होगये, क्योंकि भले ही मनुष्यों पर आपत्ति न आई हो, पर उसके आने का डर ही उनके होश उड़ा देता है ॥२९॥

परिजनस्तु तं पश्यन्, गुणमालामथात्यजत् ।
न हि सन्तीह जन्तूना–मपाये सति बान्धवाः ॥ ३० ॥

अन्वयार्थौ—अथ = उस मदोन्मत्त हाथी के आजाने पर, तम् = उस हस्ती को, पश्यन् = देखने वाले, परिजनः = गुणमाला के नौकर चाकर और सम्बन्धी पुरुष, तु = तो, गुणमालाम् = गुणमाला को, अत्यजत् = छोड़ गये । नीतिः—हि = क्योंकि, इह = इस लोक में, अपाये सति = आपत्ति के आजाने पर, जन्तूनाम् = जीवों के, के = कोई, अपि = भी, बान्धवा = सहायक, न सन्ति = नहीं होते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थः—इस स्वार्थी संसार में 'सुख के सब लोग संगाती हैं, दुःख में कोई काम न आता है' इस कहावत के अनुसार दुःख पड़ने पर कोई सहायक नहीं होता है, तदनुसार हाथी से भयभीत स्वार्थी कुटुम्बी और नौकर तो गुणमाला को उसी खतरनाक स्थान पर अकेली छोड अपनी अपनी जान बचाकर रफूचक्कर होगये ॥३०॥

कृत्वा तां पृष्ठतो धात्री, काचिदस्थाद्दयावहम् ।
हताया मय्यतः पूर्वं, कन्येयं हन्यतामिति ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थौ—किन्तु, काचित् = कोई, धात्री = धाय, अत = इस कन्या से, पूर्वम् = पहिले, मयि हतायाम् = मेरे मारे जाने पर, इयम् = यह, कन्या = लड़की, हन्यताम् = मारीजाय, इति = इस प्रकार, दयावहम् = करुणाजनक वचन, उक्त्वा = कहकर, ताम् = उस गुणमाला को, पृष्ठतः = पीछे, कृत्वा = करके, अस्थात् = खड़ी होगई ॥ ३१ ॥

भावार्थ —किन्तु कोई एक परोपकारिणी धाय, 'मेरे मरने पर

चाहे जो हो पर मेरे जीते जी यह कन्या न मारी जा सकेगी, ऐसा सोच, करुणा से उसे अपने पीछे कर खड़ी होगई ॥३१॥

समदुःखसुखा एव, बन्धवो ह्यत्र बान्धवाः ।

दूता एव कृतान्तस्य, द्वन्दकाले पराङ्मुखाः ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थौ—हि = क्योंकि, अत्र = इस लोक में, समदुःखसुखाः = दुःख और सुख में समदृष्टि रखने वाले, बन्धवः = मित्र, सहायक या भाई, एव = ही, बान्धवाः = यथार्थ मित्र सहायक या भाई, कथ्यन्ते = कहे जाते हैं, किन्तु, द्वन्दकाले = विपत्ति के समय में, पराङ्मुखाः = काम न आने वाले, ते = वे तीनों, कृतान्तस्य = काल के, दूता = दूत, एव = ही, सन्ति = हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ —जो मनुष्य धन, सुख और स्वास्थ्य के होने पर जैसा प्रेम व्यवहार करते हैं उसी प्रकार दारिद्र्य, आपत्ति और रोग के आने पर भी अगर करें तो वे वास्तव में ही मित्र, सहायक या भाई कहलाने के पात्र हैं, किन्तु जो दुःखादि में काम नहीं आते हैं वे वास्तव में बन्धु नहीं किन्तु यमदूत ही हैं । तदनुसार दुःख मे परित्याग करने के कारण गुणमाला के कुटुम्बी आदि भी उसके वास्तविक बन्ध नहीं थे, किन्तु धाय ही उत्तम वन्धु थी ॥ ३२ ॥

यत्र क्वापि हि सन्त्येव, सन्तः सार्वगुणोदयाः ।

क्वचित् किमपि सौजन्यं, नो चेल्लोकः कुतो भवेत् ॥३३॥

अन्वयार्थौ—सार्वगुणोदयाः = सब के हितकारी गुणो सहित, सन्तः = सज्जन, यत्र क्वचित् = जहां कहीं पर, सन्ति एव = होते ही हैं । नीतिः—हि = क्योंकि, क्वचित् = कहीं पर, किमपि = .

कुछ भी, सौजन्यम् = सज्जनता, नो चेत् = नहीं हो, तर्हि = तो, लोक = संसार की सत्ता, कुतः = कैसे, भवेत् = हो सकेगी॥३३॥

भावार्थ —परोपकारी और उत्तमोत्तमगुणविशिष्ट सज्जन सर्वत्र तो नहीं मिलते पर कहीं कहीं होते ही हैं। क्योंकि यदि संसार में सज्जनता की गन्ध ही न रहे तो संसार का अस्तित्व ही न रह सकेगा ॥ ३३ ॥

स्वामी परिणतं वीक्ष्य, करिणं तं न्यवारयत् ।
स्वापदं न हि पश्यन्ति, सन्तः पारार्थ्यतत्पराः ॥३४॥

अन्वयार्थौ—पारार्थ्यतत्पराः = परोपकार मे तत्पर, सन्तः = सज्जन पुरुष, स्वापदम् = अपनी आपत्ति को, न पश्यन्ति = नहीं विचारते हैं, अतएव, स्वामी = जीवन्धर स्वामी, परिणतम् = दाँतो से तिरछा प्रहार करने वाले, तम् = उस, करिणम् = हस्ती को, वीक्ष्य = देखकर, न्यवारयत् = रोकता हुआ ॥ ३४ ॥

भावार्थ —परोपकारी सज्जन दूसरे के हितार्थ अपनी आपत्ति की भी पर्वाह नहीं करते हैं। तदनुसार परोपकारी और सज्जन जीवन्धर ने भी मदोन्मत्त हाथी से अपने खतरे की लेशमात्र भी पर्वाह न कर उसे अपने हाथ के कड़े से ताड़ित कर गुणमाला के पास से बात की बात में हटा दिया ॥ ३४ ॥

परिवारोऽप्यथायासी—दहंपूर्विकया स्वयम् ।
स्वास्थ्ये ह्यदृष्टपूर्वाश्च, कल्पयन्त्येव बन्धुताम् ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके अनन्तर, परिवारः = कुटुम्बी जन, अपि = भी, अहम्पूर्विकया = मैं पहिले आया, मैं पहिले आया इस प्रकार कथनपूर्वक, अयासीत् = आगये ।

नीतिः—हि = क्योंकि, स्वास्थ्ये सति = कुशलता के होने पर, अदृष्टपूर्वाः = पहिले कभी नहीं देखे गये मनुष्य, अपि = भी, बन्धुताम् = मित्रता या रिश्तेदारी को, कल्पयन्ति = करते हैं, पुनः = तो फिर, दृष्टानान्तु का वार्ता ? ॥ ३५ ॥

भावार्थः—धन, जन और सुख मे भरपूर होने पर तो जिनके कभी दर्शन भी न हुए हों वे भी स्वयं आकर नाता या मैत्री जोडा करते हैं, किन्तु इसके विपरीत, उन तीनों के न होने पर सगे भी पराये जैसा व्यवहार करने लगते हैं, तदनुसार हाथी से आपत्ति आने पर जो कुटुम्बी आदि जन गुणमाला को खतरे में छोड़ भाग गये थे वे ही उसकी रक्षा होने पर 'मैं पहिले आया, मैं पहिले आया इत्यादि' कहते हुए गुणमाला के पास आगये ॥ ३५ ॥

अन्योऽन्यदर्शनादासीत्, कामः कन्याकुमारयोः ।
दुःखस्यानन्तरं सौख्यं—ततो दुःखं हि देहिनाम् ॥३६॥

अन्वयार्थौ—तदा = उस समय, अन्योऽन्यदर्शनात् = परस्परावलोकन से, कन्याकुमारयो = गुणमाला और जीवन्धर के, कामः = परस्पराशक्ति, आसीत् = हो गई। नीति —हि = क्योंकि, देहिनाम् = प्राणियों के, दु खस्य = दुख के, अनंतरम् = बाद, सौख्यम् = सुख, च = और, ततः = उस सुख के बाद, दु खम् = दु ख, भवति = होता है ॥ ३६ ॥

भावार्थः—हस्ती से रक्षा करते समय परस्पर में एक दूसरे के देखने से गुणमाला और जीवन्धर के कामवासना जागृत होगई। ठीक ही है कि जीवों पर सुख और दुख का चक्र सदा घूमा करता है, अतएव गुणमाला के भी पहिले तो हाथीके भय से दुःख, पीछे प्राणरक्षा से सुख और फिर कामविकारोत्पत्ति से दुःख हुआ ॥३६॥

अशान्तस्वान्तसंतापा, निशान्तं प्राप सा पुनः ।
नो चेद्विवेकनीरौघो–रागाग्निः केन शाम्यति ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थौ—पुनः=फिर, सा=वह गुणमाला, अशांतस्वान्तसन्तापा सती=शांत नहीं हुआ है हृदय का संताप जिसका ऐसी होती हुई, निशान्तम्=अपने मकान को, प्राप=चली गई। नीति.—हि=क्योंकि, यदि, विवेकनीरौघः=विवेकरूपी जल का समूह, नो चेत्=नहीं होवे, तर्हि=तो, रागाग्नि=राग रूपी अग्नि, केन=किसके द्वारा, शाम्यति=शान्त हो सकती है ? किन्तु, केनापि न=किसी के द्वारा नहीं ॥ ३७ ॥

भावार्थ.—जिस प्रकार अग्नि, जल से ही शान्त हो सकती है, अन्य से नहीं, उसी प्रकार कामरूपी अग्नि भी विवेक से शान्त हो सकती है। अतएव विवेक की हीनता के कारण गुणमाला भी काम-विकार से सतप्त होती हुई ही अपने घर पहुंची ॥ ३७ ॥

क्रीडाशुकं च प्राहैषीत्, सविधे स्वामिनः पुनः ।
योग्यायोग्यविचारोऽयं–रागान्धानां कुतो भवेत् ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थौ—पुनः=पश्चात्, सा=वह गुणमाला, स्वामिनः=जीवन्धर स्वामी के, सविधे=पास में, क्रीडाशुकम्=अपने मन बहलाव के लिये पाले हुये तोते को, प्राहैषीत्=भेजती हुई। नीति·—हि=क्योंकि, अयम्=यह प्रसिद्ध, योग्यायोग्य-विचारः=औचित्य और अनौचित्य का विचार, रागान्धानाम्=कामासक्त जनों के, कुतः=कहां से, भवेत्=हो सकता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—कामोत्पत्ति के बाद उस गुणमाला ने घर पहुंच कर अपने एक क्रीडाशुक द्वारा जीवन्धर के पास अपना हार्दिक संदेश भेजा। ठीक भी है कि—कामासक्तजनों के औचित्यानौचित्य का विचार नहीं रहता है। अतएव वह भी इस अनुचित कृत्य को करने के लिये जरा भी संकुचित नहीं हुई ॥३८॥

चाटुं प्रायुङ्क्त कीरोऽपि, तं पश्यन् स्वेष्टसिद्धये।
एतादृशेन लिंगेन, परलोको हि साध्यते ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थौ—कीरः=तोता, अपि=भी, तम्=उस जीवन्धर को, पश्यन्=देखता हुआ, स्वेष्टसिद्धये=अपना मतलब सिद्ध करने के लिये, चाटुम्=खुशामदी की बातें, प्रायुंक्त=करने लगा। नीति—हि=क्योंकि, एतादृशेन=ऐसे, लिंगेन=कारणों से परलोकः=अन्य मनुष्य, साध्यते=वशीभूत किये जाते हैं॥३६॥

भावार्थ—उस तोते ने भी जीवन्धर के पास पहुंच कर अपना मतलब सिद्ध करने के लिये निम्न प्रकार खुशामदी बातें कीं। क्योंकि संसार में खुशामद की बातों से अपना मतलब सिद्ध होने में प्राय: अवश्य सहायता मिलती है। अतएव तोते ने भी उसी का उपयोग किया ॥ ३६ ॥

विषयेषु समस्तेषु, कामं सफलयन्सदा।
गुणमाला जगन्मान्यां—जीवयञ्जीवताच्चिरम् ॥४०॥

अन्वयार्थौ—यत्=कि, समस्तेषु=सभी, विषयेषु=पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में, स्वस्य तस्याश्च=अपनी और उसकी, कामम्=इच्छा को, सदा=हमेशा, सफलयन्=सफल करते हुए, त्वम्=तुम, जगन्मान्याम्=जगत में माननीय,

गुणमालाम्=गुणमाला कन्या और अपने गुणसमूह को, जीवयन्=रक्षा करते हुए, चिरम्=बहुत काल, जीवतात्=जीते रहो ॥ ६० ॥

भावार्थः—उस तोते ने जीवन्धर से कहा कि हे महापुरुष ! आप समस्त विषयों में अपनी और उसकी इच्छाओं को सफल करते हुए जगन्मान्य गुणमाला कन्या और अपने गुण समूह की रक्षा और अपने नाम को सार्थक करते हुए चिरकाल जीओ ॥४०॥

इत्याशिषा कुमारोऽपि, तत्संदेशाच्च पिप्रिये ।
इष्टस्थाने सती वृष्टि-स्तुष्टये हि विशेषतः ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थौ—कुमार=जीवन्धर कुमार, अपि=भी, इति=पूर्वोक्त, आशिषा=आशीर्वाद से, च=और, तत्संदेशात्=गुणमाला के संदेश से, पिप्रिये=आनन्दित हुए । नीति—हि=क्योंकि, इष्टस्थाने=उपजाऊ भूमि में, सती=हुई, उत्तम, वृष्टिः=वर्षा, विशेषतः=विशेषरीति से, तुष्टये=संतोष के लिए, भवति=होती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार एक तो जमीन अच्छी उपजाऊ हो और फिर उसी में उत्तम वर्षा होजावे तब उससे होने वाले लाभ से कृषक के आनन्द का पार नहीं रहता है उसी प्रकार स्वयं इच्छुक जीवन्धर भी तोते द्वारा उसका अपनी इच्छानुकूल संदेश और व्यंग-वचन पाकर बहुत ही खुश हुआ ॥ ४१ ॥

प्रतिसंदेशमप्येष—कीराय प्रत्यपादयत् ।
प्रेक्षावन्तो वितिन्वन्ति, न ह्युपेक्षामपेक्षिते ॥४२॥

अन्वयार्थौ—एवः=यह जीवन्धर, अपि=भी, कीराय=तोते के लिये, प्रतिसंदेशम्=संदेश का प्रत्युत्तर, प्रत्यपादयत्=देता हुआ। नीति.—हि=क्योंकि, प्रेक्षावन्त.=बुद्धिमान् पुरुष, अपेक्षिते=चाही हुई, वस्तुनि=वस्तु के विषय में, उपेक्षाम्=उपेक्षा को, न वितन्वन्ति=नहीं करते हैं ॥४२॥

भावार्थ.—बुद्धिमान् मनुष्य अपने द्वारा इच्छित वस्तु के विषय में उपेक्षा नहीं किया करते हैं। अतएव जीन्धर ने भी स्वेच्छित गुण-माला के विषय में लापरवाही न कर उमी तोते के द्वारा उसके अनुकूल प्रत्युत्तर भेज दिया ॥ ४२ ॥

मुमुदे गुणमालापि, दृष्ट्वा पत्रेण पत्रिणम् ।
स्वस्यैव सफलो यत्नः, प्रीतये हि विशेषतः ॥४३॥

अन्वयार्थौ—गुणमाला=गुणमाला, अपि=भी, पत्रिणम्=तोते को, पत्रेण सह=पत्र के साथ, दृष्ट्वा=देखकर, मुमुदे=प्रसन्न हुई। नीति —हि=क्योंकि, स्वस्य=अपना, एव=ही, यत्नः=यत्न, सफल सन्=सफल होता हुआ, विशेषतः=विशेषरूप से, प्रीतये=प्रीति के लिये, भवति=होता है ॥ ४३ ॥

भावार्थ —जब दूसरे के द्वारा कराये गये भी कार्य के सफल होने पर मनुष्यों को बहुत खुशी होती है तब फिर अपने आप कर सफलता पाने पर उत्पन्न हुई प्रसन्नता का तो कहना ही क्या है? तदनुसार तोते को सपत्र वापिस आया देख अपने यत्न को सफल समझ गुणमाला भी मन में फूली न समाई ॥ ४३ ॥

पितरावेतदाकर्ण्य, मुमुदाते भृशं पुनः ।
दुर्लभो हि वरो लोके, योग्यो भाग्यसमन्वितः ॥४४॥

अन्वयार्थौ—पुनः = पश्चात्, पितरौ = गुणमाला के माता पिता, एतत् = इस पूर्वोक्त समाचार को, आकर्ण्य = सुनकर, भृशम् = अत्यन्त, मुमुदाते = प्रसन्न हुये। नीतिः—हि = क्योंकि, लोके = संसार में, भाग्यसमन्वितः = भाग्यशाली, योग्यः = गुणवान् उत्तम, वरः = वर, दुर्लभः = दुष्प्राप्य, भवति = होता है ॥ ४४ ॥

भावार्थः—लोक में भाग्यशाली, कलाकुशल और व्यवहार-निपुण वर का मिलना बहुत कठिन होता है। अतएव अनायास ही सुयोग्य और भाग्यशाली वर की प्राप्ति जान गुणमाला के माता पिता भी बहुत प्रसन्न हुये ।। ४४ ।।

अथामुष्यायणौ कौचि-न्नीतौ गन्धोत्कटान्तिकम् ।
न हि नीचमनोवृत्ति-रेकरूपा स्थिरा भवेत् ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थौ—अथ = इसके बाद, अमुष्यायणौ = कुलीन, कौचित् = कोई दो मनुष्य, गन्धोत्कटान्तिकम् = गन्धोत्कट के समीप को, नीतौ = प्राप्त हुये। नीतिः—हि = क्योंकि, नीच-मनोवृत्तिः = नीच पुरुषों के मन की प्रवृत्ति, एकरूपा = एक सदृश, च = और, स्थिरा = स्थिर, न भवेत् = नहीं होती है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—इसके बाद जीवन्धर के प्रतिपत्ती किन्हीं दो प्रतिष्ठित पुरुषों ने गुणमाला और जीवन्धर के प्रेम को अनुचित कृत्य कहते हुये गन्धोत्कट से उनकी चुगली की, क्योंकि नीचजनों की मनोवृत्ति सदा एकसी और अटल नहीं रहती है—वे किसी न किसी सांचे झूठे ऐब को देख चुगलखोरी करने में ही मस्त रहते हैं। तदनुसार ही उन दोनों ने भी यह कुकृत्य करते संकोच नहीं किया ।। ४५ ।।

अनुमेने तयोर्वाक्यं-श्रुत्वा गन्धोत्कटोऽपि सः ।
अदोषोपहतोऽप्यर्थः, परोक्त्या नैव दूष्यते ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थौ—किन्तु, स =वह, गन्धोत्कट.=गन्धोत्कट अपि=भी, तयो =उन दोनों चुगलखोरो के, वाक्यम्=वच को, श्रुत्वा=सुनकर, स्वय, अनुमेने=अनुमति देता हुआ नीतिः—हि=क्योंकि, अदोषोपहत.=निर्दोष, अर्थ.=पदा परोक्त्या=दूसरे के कहने से, एव=ही, न दूष्यते=दूषित नह होता है ॥ ४६ ॥

भावार्थ.—स्वय निर्दोष पदार्थ किसी के कहने मात्र से सदो नही हो सकता है। अतएव समझदार गन्धोत्कट ने भी जीवन्धर व योग्यता और विश्वासपात्रता का बिचार कर उनकी चुगली व नि.सारता जान 'यह सम्बन्ध अच्छा ही है इत्यादि' कहकर उन प्रेम पर अपनी अनुमति ही प्रगट की। ४६ ॥

सुतां विनयमालाया-गुणमालां यथाविधि ।
दत्तां कुबेरमित्रेण, परिणिन्येऽथ जीवकः ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थौ—अथ=इसके बाद, जीवक.=जीवन्ध कुवेरमित्रेण=कुवेरमित्र के द्वारा, दत्ताम्=दी हुई, विन मालाया =विनयमाला की, सुताम्=सुपुत्री, गुणमालाम्= गुणमाला को, यथाविधि=शास्त्रोक्तपद्धति के अनुसा परिणिन्ये=व्याहता हुआ ॥ ४७ ॥

भावार्थ —तत्पश्चात् जीवन्धर ने कुवेरदत्त (पिता) द्वारा प्रद विनयमाला (माता) की सुपुत्री गुणमाला के साथ आर्षोक्तविधि विवाह किया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते भावार्थदीपिकाटीकोपेते
क्षत्रचूडामणौ नीतिकाव्ये चतुर्थलम्बः समाप्तः ।